कविताएँ
१६५८

[वर्ष में प्रकाशित प्रसारित
प्रतिनिधि कविताओं का संकलन]

सम्पादक
सुरेन्द्र चतुर्वेदी • रामबहादुर मुक्त
प्रबन्ध सम्पादक
सुशीलकुमार नेवटिया

प्रकाशक
क्षितिज प्रकाशन
दिल्ली होटल, ६६ कंसारी पाड़ा रोड, भवानीपुर
कलकत्ता २५
तथा
महाकाली बिल्डिंग, पायधुनी,
बम्बई ३

वितरक
हिन्दी भवन
जालंधर • इलाहाबाद

कविताएँ '५८

'कविताएँ १९५८' आपके सामने प्रस्तुत है। सम्पादकों द्वारा इस संकलन की परम्परा से यह दूसरा प्रयत्न है। स्वभावतः आज किसी भी 'कविता संकलन' को सामने पाकर इस प्रकार की जिज्ञासा उठती है कि इसके एकत्रित रूप का क्या महत्त्व है और रचना तथा पठन-पाठन की दृष्टि से कहाँ तक इस प्रकार के संकलन प्रोत्साहन दे सकेंगे। इस जिज्ञासा का समाधान तो आलोचक प्रवर ही कर सकते हैं, प्रस्तोता नहीं। अतः यहाँ पर हम प्रस्तुत 'संकलन' के बारे में ही आपसे कुछ बातें करेंगे।

इस 'संकलन' की कविताओं का चुनाव सम्पादकों की रुचि पर आधारित है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने पाठकों, श्रोताओं, आलोचकों और सबसे ऊपर कविताओं के कविता होने का ध्यान नहीं रखा है। सुरुचि के साथ ही आधुनिक काव्य तत्त्वों की प्रगतिशील विकसनशील काव्य परम्परा को सम्पूर्णता के साथ ग्रहण करने वाली कविताओं को ही संकलित करने का अधिक ध्यान रखा गया है। हिन्दी कविता के विकास में जो स्थिति आज परिलक्षित होती है उसके आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि यह 'संकलन' केवल हमारी अग्रिम सशक्त काव्य-दिशा की ओर एक दृढ़ संकेत भर है। यह स्वीकार करने मे हमें लज्जा नहीं अपितु हर्ष होता है। कविता के आधुनिक शिल्पतत्त्व, शब्द-संग्रथन, अनुभूति की बौद्धिक गहराई तथा तन्मयता (पिलपिली भावुकता नहीं), ध्वनि संगम, लयबद्धता का आधुनिक रूप और विषय वैविध्य के जो स्वरूप हमारे यहाँ दृष्टिगत हो रहे हैं वही, सही अर्थों में, सच्चे काव्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः इस संकलन में आपको अधिकांश कविताएँ शिल्प, छन्द, ध्वनि-संयोजन आदि की दृष्टि से आधुनिक लगेंगी जो पिछले वर्ष की सर्वश्रेष्ठ प्रकाशित अथवा प्रसारित रचनाएँ हैं।

यह तो हुई एक प्रकार की कविताओं की स्थिति। इनके अतिरिक्त आपको इस संकलन में 'गीत' भी संकलित रूप में मिलेंगे। पिछले संकलन में हमने अपेक्षाकृत अधिक गीतकारों को स्थान दिया था। गीतों के बारे में हमें मात्र इतना ही कहना है कि आधुनिक कविता की समस्त प्रगतिशील तात्विक अभिव्यक्ति-शक्ति के बावजूद, उसके माध्यम से

सभी कुछ व्यक्त नहीं किया जा सकता। गीतों की ध्वननशील, संयमित प्रक्रिया के भीतर जिस सुसंगठित, आन्तरिक, निजी सुख-दुःख की डूबी अनुभूति को चित्रित किया जा सकता। ध्वनियों, शब्दों और लय के अनुक्रमों का जो चुनाव गीतों की भाव सम्पदा को व्यक्त करने के लिए आवश्यक होता है वह तथाकथित 'नयी कविता' (आधुनिक कविता ही हम उसे कहना अधिक पसन्द करते हैं) में थोथा दृष्टिगत होता है। तात्पर्य यह कि 'गीतों' और दूसरी 'नयी कविताओं' का क्षेत्र ही बिल्कुल पृथक है। इसीलिए आज जब कोई गीतकार 'नयी कविता' लिखने का प्रयत्न करता है या कोई नया कवि, (जो तत्त्वतः गीतकार नहीं है।) गीत लिखने का कोशिश करता है तो ऐसा लगता है जैसे दोनों ने अजनबी भूमि पर चरण रख दिया हो। 'गीतकार' अपने लाख प्रयत्नों के बावजूद आधुनिक काव्य की 'स्पिरिट', बिम्बविधान, शिल्पतत्त्व, छन्द-क्रम को नहीं पकड़ पाते और अन्ततः गीतों की 'इमेजरी' को ही थोड़ा बहुत बिगाड़ कर 'नयी कविता' के ढाँचे में 'फ़िट' कर देते हैं। और नये कवि या तो लोक गीतों का शोषण करते हैं, या उल्टी सीधी शब्दावली के द्वारा छायावादी गीतों की परम्परा के निकट पहुँचने की कोशिश। हाँ, कुछ कवि ऐसे भी हैं जो इन दोनों तत्त्वों का सफल प्रयोग करने में चतुर हैं। किन्तु वे अपवाद स्वरूप ही हैं।

ज़ाहिर है कि यह स्थिति बिल्कुल ही वांछनीय नहीं है। 'गीत' और 'कविता' दो भिन्न काव्य-विधाएँ हैं और इन दोनों का अरुचिकर घालमेल स्वस्थता का बोध नहीं कराता। इसी दृष्टि से आधुनिक काल के कुछ प्रमुख गीतकारों का संकलन इस 'संग्रह' में दिया गया है। यद्यपि वे 'नयी कविता' भी लिखते हैं किन्तु हमें उनको उनके मौलिक रूप में ही आपके समक्ष प्रस्तुत करना अधिक उपयुक्त लगा।

'सुरुचि' का प्रश्न भी इसी से सम्बद्ध है। 'सुरुचि' को लेकर आलोचको और अनेक कवियों ने बहुत प्रकार की बातें कही हैं। उन सबका सार केवल अपनी कविताओं को या अपने को अच्छी लगने वाली कविताओं को ही गलत या सही ढंग से स्थापित करने का लक्ष्य रहा है। इस भ्रम के पार 'सुरुचि' का सम्बन्ध सही अर्थों में साधारणीकरण के प्रश्न से अधिक सम्बन्धित है। रुचिभेद, स्तर और रुचिपरिमाण की स्थिति अन्ततः साधारणीकरण के अनेक स्तरों से बँधी होती है और अन्ततः यह साधारणीकरण भी रचनाकार और पाठक के रागात्मक तादात्म्य की एक विशेष स्थिति का द्योतक होता है। सामाजिक संस्कार, शिक्षा-दीक्षा, पालन-पोषण और वातावरण के अनुकूल व्यक्ति और समूह

के रूप में समाज के बौद्धिक स्तर भिन्न-भिन्न परिमाणों में निर्मित होते रहते हैं और उसी के अनुकूल, रुचि, रचना का स्तर, उसका आन्तरिक रागात्मक तादात्म्य और साधारणीकरण।

अतः यह स्वयंसिद्ध और शाश्वत सत्य है कि साधारणीकरण का कोई भी एक स्तर निर्धारित नहीं किया जा सकता। भोक्ता की विभिन्न स्थितियों के अनुकूल भट्टलोल्लट, शंकुक तथा अभिनवगुप्ताचार्य ने, और अन्य अनेक रसवादी और अलंकारशास्त्री आचार्यों ने तथा पश्चिम के विद्वानों ने 'साधारणीकरण' के बारे में इतने विभिन्न मत प्रतिपादित किए हैं उसका प्रमुख कारण 'साधारणीकरण' के स्तरों की भिन्नता ही है। रचना के भीतर जिस प्रकार, काल, वातावरण, बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास तथा वैज्ञानिक प्रगति के साथ, जो परिवर्तन आते हैं वे सभी पाठकों के भीतर आने भी उतने ही आवश्यक हैं क्योंकि वह अन्ततः रचना का भोक्ता होता है और इस रूप में कवि की रचनाकारिता के बाद उसका ही सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान होता है।

'सुरुचि' की इन्हीं भिन्न स्तरीय स्थितियों और उसके फलस्वरूप साधारणीकरण की स्तरगत विभिन्नताओं को दृष्टि में रखकर (संक्षेप में पाठकों की भिन्न भिन्न किन्तु सच्ची रसभोग की बौद्धिक स्थिति को ध्यान में रखकर ही) इसमें गीतों और 'नयी कविताओं' दोनों के प्रतिनिधित्व का ध्यान रखा गया है। भविष्य में कविता का कौन रूप सम्पूर्ण वर्तमान और सम्पूर्ण आने वाले भविष्य को अपने में प्रतिबिम्बित करेगा इसका निर्णय तो भविष्य स्वयम् कर लेगा, किन्तु आज की स्थिति में हमें अपने दोनों काव्य रूपों में से किसी का भी वहिष्कार (अपनी किसी व्यतिगत, संकीर्ण सैद्धान्तिक धारणा के कारण) करना अवांछनीय जान पड़ा।

एक और भी बात : पिछले वर्ष के संकलन में हमने कुछ प्रादेशिक भाषाओं की कविताएँ भी दीं और वादा किया था कि अगले वर्ष इस दिशा में हम और भी अधिक रचनाएँ दे सकेंगे। अनेक कारणों से, जिनमें ऐसे कवियों में सहयोग भावना की कमी भी है, हम ऐसा नहीं कर सके। इसके लिए हम पाठकों से क्षमा प्रार्थी हैं।

यह संकलन पिछले वर्ष में प्रकाशित और प्रसारित सभी श्रेष्ठ कविताओं का प्रतिनिधित्व करता हो ऐसा हमारा दावा नहीं है। फिर भी हम अपनी शक्ति भर पाठकों आलोचकों और स्वयम् कवियों के सामने पिछले वर्ष की अधिकांश अच्छी कविताओं को प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं ऐसा हमारा विश्वास है। बस।

सम्पादक-द्वय

आभार स्वीकार

अखिल भारतीय आकाशवाणी

अंजना, अपरम्परा, आधार, कल्पना, कृति, धर्मयुग, नयी कविता, भारत, युगचेतना, राष्ट्रवाणी, लहर, सुप्रभात, ज्ञानोदय पत्रों तथा संकलनों

तथा

जिन कवियों की प्रकाशित एवं प्रसारित रचनाएँ संकलन में ली गई हैं।

यह संकलन निकालने में हमें विज्ञापनदाताओं से सहयोग मिला जिसके लिये हम उनके आभारी हैं। कलकत्ते से श्री ज्वालाप्रसाद गोयनका, बालकृष्ण गुप्ता, विद्यासागर गुप्ता, राजेन्द्र भारती, विश्वनाथ सिंह, मनमोहन ठाकुर तथा श्री हृषीकेश चतुर्वेदी ने इस दिशा में हमारा हाथ बटाया। बम्बई से श्रीनरेन्द्र राजगुरु, प्रो० शिवाधार शुक्ल, राधेश्याम सेक्सरिया, बनवारीलाल झुनझुनवाला, ईश्वरशरण सिंह, विभवप्रताप सिंह और विशेषकर श्री गोविन्दप्रसाद नेवटिया ने विज्ञापन देने दिलाने में हमें अपना अमूल्य सहयोग दिया।

बन्धुवर रामावतार चेतन ने पुस्तक का आवरण चित्र बनाया तथा श्री इन्द्रचन्द्र नारंग ने विशेष रुचि लेकर संकलन की शीघ्र छपाई में हमारा हाथ बटाया।

—प्रबन्ध सम्पादक

कवि-क्रम

●

कृपया जोड़ लें :

पृष्ठ घ की तीसरी पंक्ति में—चित्रित किया जा सकता—के बाद —है, उसे आधुनिक काव्य के सर्वप्रचलित रूप के द्वारा नहीं किया जा सकता।

शुद्ध कर लें :

पृष्ठ १७ पर तीसरी पंक्ति में—हाँकती हुई लम्बी ख़ामोशी—के स्थान पर—हाँफती हुई लम्बी ख़ामोशी

● कितनी देर लगी

'अंचल'

ओ अबोध मन की तन्मयते ! कितनी देर लगी !
शब्द नहीं उठते स्वर की गूँजें तो भर जाती हैं
साँसों के सन्नाटे में भी ध्वनियाँ उतराती हैं
धीरज की आँखों में ममता का जल भर भर आता
थकी खड़ी हैरान प्रतीक्षा का अन्तर उफनाता
ओ मधुमयी प्रेरणे ! तुमको कितनी देर लगी !

रुके अजन्मे पड़े तुम्हारे बिना अर्चना के क्षण
है मेरा विश्वास अभी नादान और चंचल मन
अपनी ही आशंका से तो कम्पित मैं—मेरापन
छोटी मेरी साध अभी कमसिन है मेरा अर्पण
तुमको ही तो अर्पित हूँ मैं कितनी देर लगी !

चुनते चुनते अश्रु प्यार के अपने दीप बुझाये
अपना भेद न जाना पर जगती के भेद भुलाये
टूटा कितनी बार हृदय गीतों का तार न टूटा
सूखा फूलों का रस मन का मधुघट कभी न फूटा
रह रह मन अकुलाता तुमको कितनी देर लगी !

कितनी देर लग गई तुमको ओ सपनों की गोरी !
है अछोर अवदात तुम्हारे आकर्षण की डोरी
कितना गहन अँधेरा है मन कैसा कारावासी
उगती नयी नयी दीवारें जमती नयी उदासी
ओरी अन्तर्यामिनि ! तुमको कितनी देर लगी !

आया पिछला पहर रात का अब तक स्वप्न न छूटा
फूटी फूटी लहर चाँद की तारों का दम टूटा
इस तम में आकर सूरज भी पड़ जायेगा काला

बिना तुम्हारे बुझ जायेगी किरण किरण की ज्वाला
ओ ˮकाश की प्राण ! तुम्हें क्यों इतनी देर लगी !

कितनी रात अकेली जीवन कितना सूना सूना
थके चरण, आवेग अपरिमित, बिना कहे दुख दूना
मेरा राग उड़े प्रतिकल्पी शिखरों को छू छू ले
बिना तुम्हारे कैसे मन अनवधि उत्सुकता भूले
ओरी रस-आवेशिनि ! तुमको कितनी देर लगी !

डूबे काले घने समय में दिन के दिये हँसेंगे
बौराये भरमाये मेरे संशय मुझे डँसेंगे
बिना कहे सामीप्य तुम्हारा, मैंने सदा पिया है
बिन देखे बिन पाये तुमको सदा समेट लिया है
ओ मेरी अरुणाभे ! तुमको कितनी देर लगी !

मुझसे रहा न जाता तुमको पल पल बिना बुलाये
सदा असंख्य बसन्तों के सौन्दर्य तुम्हें पहनाये
अपनी भूल भूल में मैंने तुमको ही दोहराया
सच लगने वाली छलना ने सदा तुम्हीं को गाया
ओ पुन्यायन-सुषमे ! तुमको कितनी देर लगी !

● अँजुरी भर फूल

अजितकुमार

मुझमें जो भाव उगे-उमगे,
वे होंगे कुछ ;
तुमने देखे केवल—
अँजुरी भर फूल !

तुम कितनी अविदित हो,
मैं कैसा अस्थिर हूँ ;
निश्चित हैं केवल ये—
अँजुरी भर फूल !

मन तो कुटिल है, और
तन ! कितना दूषित है ;
तुमको केवल अर्पित—
अँजुरी भर फूल !

लौटे यात्री का वक्तव्य

'अज्ञेय'

सभी जगह,
जो उपजाता है अन्न, पालता सब को
उसकी झुकी कमर है।

सभी जगह,
जो शास्ता है, बागडोर थामे है, उसकी दीठ मन्द है—
आँखों पर है चढ़ा हुआ मोटा चश्मा जो
प्रायः धूमिल भी होता है।

सभी जगह
जिसकी मुट्ठी में ताकत है
उसका भेजा है एक ओर भेड़िये
दूसरी पर मर्कट का।

सभी जगह
जो रंग बिरंगी जाजम पर फैलाकर सपनों की मनियारी
घात लगाते हैं गाहक की
दिल मुर्गी का रखते हैं।

सभी जगह
जो मूल्यवान है सकुचा रहता है; अदृश्य, सीपी के मोती सा,
जो मिलता नहीं बिना सागर में डूबे।

सभी जगह
जो छिछला है, ओछा है
नकली कीमख़ाब पर सजा हुआ बैठा है लकदक,
चौंधाता आँखों को, जब तक ठोकर लगे, पैर रपटे
या जेब कटे, नीयत बिगड़े, हो मतिभ्रंश, दिल डँसा जाय।

सभी जगह
है एक प्रश्न :
क्या दोगे? कितना दे सकते हो?

यही पूछते हैं जो फिर भेदक आँखों से
लेते हैं टटोल अंटी में क्या है :

यही दूसरे पूछ, नाप लेते हैं कितना
लहू देह में बाकी होगा :
यही तीसरे, आँक रहे जो
मांस पेशियों में है कितना श्रमबल—
(बिना छुए या टोये जैसे गाहक चूज़े को टोता है)

यही और जो तिनकों को सिखलाते
बँधी हुई गड्डी की ताक़त, किन्तु बाँधने वाला तार
सदा अपनी मुट्ठी में रखते हैं :
यही और; जिनकी लोलुपता
देने को आमंत्रण सबको देती है,
क्योंकि सिवा इस देने के, बस उनको लेना ही लेना है।

और यही वे भी, जिनकी जिज्ञासा
कभी नहीं होती रूपायित, मुखरित
जो अनासक्त हैं, जिन्हें स्वयं कुछ नहीं किसी से लेना है :
क्या दोगे, कितना दोगे—दे सकते हो—
मुझे नहीं, जग भर को, जीवन भर को,
प्यार ?

● अर्द्ध विराम

अनन्तकुमार पाषाण

कितने वसन्त हँसते-हँसते चढ़ चुके समय की सूली पर !
पतझर के रोदन हुए शान्त।
विक्षिप्त विपिन खण्डित बाँहें जब उठा-उठा कर हार गये
गह सके न पर नभ का चन्दा,
हो निरुत्साह, निर्जीव, मूक रह गये खड़े,
मण्डलक धूलि के हुए भ्रान्त !

क्षत अस्थि-सन्धियों में मेरी आवर्त रक्त के चित्रलिखित—
से खड़े, क्रुद्ध हिंसाओं के अगणित तुरंग हैं खींच रहे
तन-शकट ! अनिमिंत प्रतिशोधों की अगन शक्तियाँ रहीं चीख
काजल का घूँघट हटा दीप मुसकुरा पड़े, अँधियारे में
अर्द्धालोकित वेश्या-वलयित सो रहा नगर विक्षुब्ध क्लान्त !

मैं अश्वारूढ़ शून्य पथ पर जा रहा मंद—
ऊपर सुरत्न-विजड़ित अम्बर
नीचे समीर मंथर-मंथर—
मैं औरंगजेबी अहंकार का दर्प चूर कर देने को
हूँ आत्मलोक के वीर शिवा-सा जन्मा अपने ही भीतर !
टिड्डी-दल-सी गत स्मृतियाँ उमड़ी हैं मन के अम्बर में—
विश्रृंखल दृश्यों का भूखा-सा ज्वार उमड़ कर आया है
मस्तिष्क-चैत्य के हेम सुनिर्मित सिंहद्वार पर अनायास !
शैशव के कोमलकाय वर्ष भी संचय थे विद्रोहों का—
उस चापलूस मुस्काहट से मैं सदा घृणा करता आया
जो केवल औरों को प्रसन्न करने को लायी जाती है !

शाला के उपवन में विशाल वह वृक्ष केवड़े का सौरभ—
सिंचित था खड़ा हृदयहारी,
उसकी छाया में एक हौज़ था गोल अँगूठी सा सुन्दर,
रज धवल केवड़े की महीन झर कर जल को ढँक देती थी !
मैं वहीं बैठकर कापी में खींचा करता था तस्वीरें !
लम्बी-लम्बी पाँतों में हम सब-के-सब शाला के लड़के
जाते थे सुबह प्रार्थना को,
जब धूप शहद-सी लिपट-लिपट बिस्किट के रँग के बड़े-बड़े
द्वारों से टपकी पड़ती थी
औ' दाने चुगने को निकली
गौरय्या खिड़की पर आकर कुछ कह सहसा उड़ जाती थी ।
रह-रह कर घंटे बजते थे,
स्याही-चूने की मिली गंध मँडरा उठती थी कभी-कभी !

कितने वसन्त हँसते-हँसते चढ़ चुके समय की सूली पर !
कितने चैत्रों की अमल धूप खिल-खिल कर मुरझायी सुन्दर !
पर एक खोज, अविराम खोज क्षण-क्षण उत्कट—
क्या है जो मानव को कर देता है कायर ?
चिन्ता का व्यूह निरंतर है अविराम चुनौती का प्रसंग !
जीवन ने सदा पुकारा है—"दो मुझको मेरी शक्ति अचल !
अपनी ही सतत तपस्या से विकसित व्यक्तित्व करूँ अपना—
व्यक्तित्व कि जैसा वीर केशरी के आग्नेय नयन का है,

व्यक्तित्व कि जैसा पंखों में होता उक़ाब के रविचुम्बी,
व्यक्तित्व कि जैसा कार्तिक स्वामी का था उस क्षण उत्कटतम
जब सत्य-पक्ष-योद्धा माता का पिया दूध करके वापिस
चल दिया, फेंक सुख की भूषा साधना मार्ग पर चिर विमुक्त;
यदि टूटें मोह-बन्ध, टूटें,
साथी-संगी छूटें, छूटें,
पर निर्विराग मैं सदा बनूँ व्यक्तित्व-केन्द्र
मानवता के अविभक्त शौर्य का चिरकिशोर !"

सो रहा नगर, निःशेष क्षुद्रता के प्रसार से ग्रस्त व्यक्ति,
सो रहा विश्व, खंडित मानव की सत्य-शक्ति,
मैं जाग रहा औ' गरल-व्यंग्य से होंठ दबा
मेरे सन्मुख हँस रहा सदा धोखा देकर बच जाने वाला अहंकार
क्या है केवल अरण्य-रोदन उच्चादर्शों की यह प्रशस्ति !
उस ओर सिन्धु है काला-सा,
इस ओर मृत्यु-सा महामौन सड़कों पर छाया है कुण्ठित,
फिर दूर-दूर तक उच्छ्वासों की फैल रही हैं झंझाएँ
भट्टी में सुन, चोटें खा-खा भी अविजित है फौलाद अभी !

कितनी ही बार स्वयम् अपने से परेशान,
मैं अर्द्धरात्रि को द्वार खोल बाहर निकला हूँ अनायास !
कच्चे चूने-सी तेज चाँदनी में आशंकित क्षुधित श्वान
जब नग्न-निरभ्र गगन की ओर उठा मुख जैसे कोस-कोस
चुप हो जाते हैं, सन्नाटा छा जाता है भू पर प्रगाढ़ !
मैं किसको कोसूँ ? क्यों कोसूँ ?
पूजित सम्मानित होने को जब मुझे गाड़ भू के भीतर
मेरी समाधि के सिंहासन पर बैठा मेरा अहंकार
मेरे ही वस्त्र पहिन, मेरी जैसी आवाज में दुनिया को
बुला रहा जो पास-पास !
जब मैं बोलूँ तो मुझमें से मेरा ही स्वर निकले अभंग,
जब मैं गाऊँ तो गाने में मेरे ही सुर का रहे रंग,
मैं चलूँ स्वयम् के पैरों पर, वामन-सा भी होकर विनम्र
पृथ्वी को केवल तीन डगों में नाप सकूँ ।
जन-जन के प्राणों की गंगा

मेरे गानों के महासिन्धु में आकर श्रम अपना खोए,
मैं दर्पण बनूँ, सभी मुझमें व्यक्तित्व निहारें अपना ही !
मैं एक सृजन के शुचि क्षण में संहार करूँ—
हो ध्वस्त विषैला अहंकार !

रातें सराय में कभी, कभी घुटने वाले होटल के पीले कमरों में,
शौक्तिक प्रभात मोटे भद्दे प्यालों में पीते चाय तिक्त
छोटी-मोटी दूकानों में,
शामें बागों की हरी घास पर टहल-टहल
पथ में सहसा आने वाली सिगरेट की खाली डब्बी को
ठोकर से उड़ा दूर पथ से—हूँ काट चुका !
पर सदा साथ रहता आया मेरी ही छाया-सा मानो
यह मेरे मन का अहंकार !

जब कभी रेल पर बैठ वाष्प-बल के फीते से नापा नगरों का अंतर,
खिड़की के पास बैठ अपने ही डिब्बे की रोशनी सहज
देखी सँग-सँग अपने चलती, तब ही मानो
साकार हो गया अहंकार !

यातना-सर्पिणी के चुम्बन का चिह्न किया उर पर धारण,
मैं अपनी सूली आप बना !
पर मेरे आहत अहंकार ने मुझे बनाया तब 'शहीद'
काँटों का ताज पिन्हा करके !
मैं सोच रहा हूँ आज—आठ औ' बीस वर्ष का जमा-खर्च !
हँस रहे गगन में तारागण
ऊष्माकुल कीड़े और मकोड़े छिद्रों के निकले बाहर—
मैं देख रहा हूँ, कीड़ों और मकोड़ों में होता न कभी है अहंकार !

यह सब तो कौतुक है मेरा !
अपने ही कौतुक को मैंने निर्माण किये शत-शत कौरव,
फिर अर्जुन बनकर लड़ा, कृष्ण बन रथ हाँका,
'एकोहं बहुस्याम' था वह !
मैं चिर-प्रपूर्ण चिर-आलोकित हूँ पुरुष पूर्ण,
अपनी निष्ठा के रूप-मुकुल मृदु पाणि पल्लवों में भर कर
आयी है प्रकृति विसर्जित करने मेरे चरणों में सगर्व ।

हो गया पराजित अहंकार…
सो रहा नगर ! यह लोक सो रहा राम-रूप,
औ' मैं लक्ष्मण-सा जाग रहा प्रहरी बन कर
संस्कृति-सीता की रक्षा को !

ऋतुएँ आयीं हर वर्ष, गयीं,
बनवास न पूरा हुआ अभी !
कार्तिक की धूप मोतिया-सी भर जाए उस मन के घट में
जो है कर्तृत्व-कुशल कार्तिक स्वामी बन कर जन्मा,
जो मोह-पुष्प केदार छिन्न
कर रोप रहा वट विशद ज्ञान का रंगहीन फिर भी सशक्त !
जीवन ने सदा पुकारा है—
मुझको दो न्यायादर्श, प्रगति के मापमान,
पाखण्डों की बखिया उधेड़ दो, दो मुझको व्यक्तित्व अमर !

मैं सोच रहा हूँ आज—आठ औ' बीस वर्ष का जमा-खर्च !
हो गया खर्च सब अहंकार, औ' अहंकार का वेग प्रबल—
यह ही तो चाहा था मैंने !
पर ज्ञान जमा कुछ हुआ नहीं, जो था वह भी यों चला गया,
संकल्पमात्र ही रहा शेष !

संकल्प प्रेम का, प्रेम जो कि हो वायु,
न दिख कर भी अपने में हो सचेष्ट !
संकल्प प्रेम का, प्रेम जो कि हो नीर,
स्वयम् आकार हीन औ' निर्विकल्प ।
संकल्प प्रेम का, प्रेम जो कि हो अग्नि
अखंडित सदा ऊर्ध्वगामी सशक्त !
संकल्प प्रेम का, प्रेम जो कि हो पृथ्वि
पोषक होकर भी जो न कभी होती पोषित !
संकल्प प्रेम का, प्रेम जो कि आकाश—
निस्सीम ! अनन्त !! विराट !!!

जीवन ने सदा पुकारा है—
धारा से जुड़ा किनारा है ।
फिर भी बंधन में बँधी-बँधी
धारा ही केवल धारा है !

मूल्यों की मर्यादा जीवन,
दृग की मर्यादा विशद गगन,
औ' मंजिल पथ की मर्यादा,
सर्वतोमुखी विकसित यौवन
मैं टाँग चुका हूँ सूली पर
लालसा हृदय की, अहंकार को तोड़ चुका
हूँ दुर्निवार !

ओलों से आँधी से आहत,
रवि उष्मा से युग-युग तापित,
जिसके नंगे सिर पर गिर कर बिजली भी सदा
हुई लज्जित,
गिरता-पड़ता, लड़ता-भिड़ता भी क्षत-विक्षत
पूरे कर चुका जिन्दगी के आधे से भी मैं ज्यादा दिन;
जो दीप-शिखा जितनी उत्तेजित होकर देती है प्रकाश
वह उतनी ही जल्दी बुझती है, इसीलिये यह कहता हूँ।

जीवन ने सदा पुकारा है—
शैशव के पुखराजी गुम्बद में गुंजित थी यह ही पुकार,
यौवन के इसने खोल दिये थे अहंकार-अवरुद्ध द्वार,
औ' बूढ़े होने के पहिले ही अपने हाथों की मशाल
पीछे आने वाली पीढ़ी के लालायित दृढ़ हाथों में
दे देने को प्रेरित मुझको कर रही मुक्त अमृत पुकार !

● 'सागरी'

सागर के महल
रिमझिम अपनी छाया में
आधी रात के पीछे
दूर हवा में उड़ते
जुगनुओं के पत्ते हैं

अनाम

कठोर सा नीला जल
मैंने आर पार देखा

लहर की अँगराई के
उस पार तारा फीका था
सागर की शय्या में

उसके अंग मसले हैं
जल की गलबाँहों ने
सागर सी श्याम
वह लड़की थी
लहरों की छाया में।

जल ने आकार बाँधा है
मुँदी मीन झलकों से
जिसके अंग फिसले हैं
सागर सी हरी गहरी
सागरी की आँखें हैं

उसकी दमक छलकी है
लहरों की झिलमिलियों से
सागर के महल चुप हैं
चाहों की मंजिल है
अर्ध-निशा के पीछे।

मैं भी तो गुज़रा हूँ
उन विशाल दरवाज़ों से
समन्दर की खाक छानी है
हवाओं से उलझा हूँ
सागर के महलों में

हवाओं के परिन्द
काले पंखों को फाड़
चाँद पर छा गये
मैंने भी चाँद रोका है
अपने खुले हाथों से

आधी रात के पीछे
हरचन्द गुज़रता हूँ

सागर के महलों से—
सागर है, सलोनी है
सागरी की आँखें हैं

● गयी रात

अभय वर्मा

गयी रात,
चेतन पहरुओं की नज़रें बचा
चोरों ने लगाई सेंध
और घुस आये।

आते ही उन्होंने
संशय के बन्धनों में मुझे जकड़ दिया
अंधकार की
विशैली जड़ी सुँघाते रहे
मेरे बेहोश होने तक—
सुँघाते रहे;
फिर घर भर को खोज
मेरे तकिये के नीचे धरी स्वप्न की चाबी को उठा लिया
और आस्था की तिजोरी खोल
मेरी संचित अनुभूतियों को चुरा लिया!

● साक्षी होगा कल का अन्धकार

आग्नेय

ये सर्पीले मुकुट, अग्निकुंडों में फेंक दो
मैं मुकुटहीन होकर लड़ूँगा।
ये रत्नजटित सिंहासन सिंधुओं में बहादो
मैं राज्यहीन होकर लड़ूँगा।
ये आस्थाहीन कवच भट्ठियों में पिघला दो
ओ मेरी सेनाओ! ओ मेरे भाइयो!
धनुषों की प्रत्यंचा तोड़ दो
मैं उन्हें अजन्मे बच्चे के नाम लिखता हूँ।

ओ मेरी प्रजाओ !
मेरा जयघोष डूब जाने दो
मैं उसे अपने शत्रुओं को समर्पित करता हूँ।
ओ मेरे सेनाधिप !
दूर दूर तक फैली पंक्तिबद्ध सेनाएँ बिखरा दो
मैं उनको
रोती माताओं, बिलखाते बेटों
और सुलग रही वधुओं के काज
भेंट करता हूँ।
ओ मेरे साथियो !
स्वर्ण रथों के मेरे अश्व सभी ढील दो
अब मैं रथहीन, सारथी विहीन
पाँव-पाँव लड़ूँगा।

ओ मेरे मित्रो ! ओ मेरे हितैषियो !
मेरा अंग अंग कटने दो
मेरा लहू बूँद बूँद रिसने दो—
मेरी रुधिरसनी भुजा नुचने दो।

ओ मेरे पक्षधरो !
मुझको कर्दमभरे सरोवर में धँसने दो
मेरे घावों को सहलाने मत आना—
जल देने मत आना—
आह ! साँझ होने पर
मेरे ही शत्रुजन मेरा यह भाल
गोद में धरकर चूमेंगे
मेरे इन रिसते घावों को सहलाएँगे।
साक्षी होगा कल का अंधकार
मैंने उनकी हिंसक आँखों में
आँसू देखे थे;
मैंने उनको कवच उतारते
अस्त्र फेंकते देखा था।

● सर्द-सा झोंका

इन्दु जैन

यह हवा का सर्द-सा झोंका
बहुत नीला
बड़ा मीठा
उड़े प्यारे गुलाबी बादलों पर
पेंग लेता,
झूलता,
आ कूद धानी टहनियों को
चूमता,
चुपके झरोखे से फिसल
अनजान ही में हाथ दोनों थामकर
मन-प्राण सब सहला गया है
यह हवा का सर्द सा झोंका !

● ज्योति पुरुष

कन्हैयालाल नन्दन

अस्ताचल गामी सूर्य !
ज़रा रथ को रोको
यों चुपके चुपके मत जाओ ।

वह सुबह-सुबह की रंगीनी
पहले परिचय के लाजशील में बीत गई ।
पूरा दिन तुमने खेल रचाया लपटों से
जब मन को भाने लगी तुम्हारी शीतलता,
अपनापा-सा महसूस हुआ
तो देख रहा हूँ—
संध्या के सहमे सायों के पीछे तुम
जाने को हो तैयार खड़े ।

अब तक लगता था
मेरे अंतर का प्रकाश खुद मेरा है,
मैं स्वयं प्रकाशित ज्योति पुरुष ।

लेकिन अब
जब तुमने समेट ली ज्योति किरण
तो जैसे मेरा ज्योति पुरुष घुटता-सा है ।
मैं समझ गया
मेरे अन्दर के ज्योति पुरुष
केवल तुम थे ।

● तेल की धार

किशोरीरमण टण्डन

उपर की लौ नहीं दीप के नीचे का अँधियार देखिए !
हाँड़ी भले टके की हो पर ठोंक-बजा सौ बार देखिए !
पहले गहरी नींव देखिए फिर ऊँची मीनार देखिए !
अजी ! आपने देखा ही क्या ?—
तिल में कितना तेल देखिए और तेल की धार देखिए !

● मुझे फिर से लुभाया

कीर्ति चौधरी

खुले हुए आसमान के छोटे-से टुकड़े ने
मुझे फिर से लुभाया ।
अरे, मेरे इस कातर, भूले हुए मन को
मोहने
कोई और नहीं आया :
उसी खुले आसमान के छोटे-से टुकड़े ने
मुझे फिर से लुभाया ।

दुख मेरा तब से कितना ही बड़ा हो,
वह वज्र-सा कठोर
मेरी राह में अड़ा हो—
पर उसको बिसराने का,
सुखी हो जाने का
साधन तो वैसा ही छोटा सहज है ।

वही चिड़ियों का गाना,
कजरारे मेघों का
नभ से ले धरती तक धूम मचाना,
पौधों का अकस्मात उग आना,
सूरज का पूरब में चढ़ना औ'
पश्चिम में ढल जाना।

जो प्रतिक्षण सुलभ
मुझे उसी ने लुभाया।
मेरे कातर भूले हुए मन के हित
कोई और नहीं आया।
दुख मेरा भले ही कठिन हो
पर सुख भी तो उतना ही सहज है।
मुझे कम नहीं दिया है देने वाले ने—
कृतज्ञ हूँ,
मुझे उसके विधान पर अचरज है।

● विश्लेषण

कायिक कान्ति
आन्तर कान्ति
दारुण ज्वाल में जलते रहें ये प्राण!
परिचित बाँह
स्नेहिल छाँह
मर
पड़ जाँय पीले पात मन के श्रान्त!
अंधी आस
गूँगी प्यास
प्राणों का कहाँ निस्तार!
....

मैं हूँ
एक ऐसी प्यास
जिसके लिये

कुमारेन्द्र
पारसनाथ सिंह

जग के पास
आखिर बूँद भर पानी नहीं है !

तुम
लहर के रजत आँगन में
बिछलती रश्मि……
मृगतृष्णा !
प्यास
शबनम में
कमल में कैद
सौरभ
मैं !
और
अन्य अनेक
(जिनको खल रहे हम)
दाग़
चूनर पर
हवा की………………
पिया के गाँव जाती सती सीता
दुल्हनिया की !

● मोटर से रात को एक लम्बा सफर

कुँवरनारायण

जैसे आँधी की एक टुकड़ी
घने नरकुलों को मोड़ती हुई
सुनसान सड़क के दोनों ओर
घने वृक्षों की लम्बी कतार
और उनके बीच बेतहाशा भागती हुई
मोटरकार
रात के पहाड़ को फोड़ती हुई
रोशनी की सुरंग में दौड़ती हुई
अँधेरे किनारों को झँझोड़ती हुई
सन्नाटे की तहों को उधेड़ती हुई

हवा के तनाव को मरोड़ती हुई

भीतर हम सब
और एक हाँफती हुई लम्बी ख़ामोशी
हमें एक दूसरे से जोड़ती हुई…

● कंचन का पानी

केदारनाथ अग्रवाल

धीरे से पैर धरा धरती पर किरनों ने
मिट्टी पर दौड़ गया लाल रंग तलुओं का
छोटा सा गाँव हुआ केसर की क्यारी-सा
कच्चे घर डूब गये कंचन के पानी में।

ऊषा ने मस्ती से फूलों को चूम लिया
डालों की डोली में लज्जा के फूल खिले
गीतों की गोरी ने सरसों की गोद भरी
गोरी को मुग्ध हुए भौंरे ने चूम लिया।

● खोल दूँ यह आज का दिन !

केदारनाथ सिंह

खोल दूँ—
यह आज का दिन !
जिसे मेरी देहरी के पास कोई रख गया है;
एक हल्दी रँगे, ताजे, दूरदेशी पत्र-सा !
झिलमिलाती रोशनी में—
हर सँदेशे की तरह यह भटका सँदेशा भी,
अनपढ़ा ही रह न जाये !
सोचता हूँ—

खोल दूँ—
इस सम्पुटित दिन के सुनहले पत्र को,
जो द्वार पर गुमसुम पड़ा है;
खोल दूँ !

पर एक नन्हा-सा किलकिता प्रश्न आकर
हाथ मेरा थाम लेता है !
कौन जाने क्या लिखा हो ?
(कौन जाने धुँधलके में—
दूसरे का पत्र कोई द्वार मेरे रख गया हो !)
कहीं तो लिक्खा नहीं है नाम मेरा,
पता मेरा,
आह, कैसे खोल दूँ ?
हाथ—
जिसने द्वार खोला, क्षितिज खोले,
दिशाएँ खोलीं,
न जाने क्यों इस अचीन्हे, मूक,
हल्दी रँगे, ताजे—
दूरदेशी सँदेशे को खोलने में—
काँपता है !

● अपरम्परा

केसरी कुमार

'विद्ध है
कल्पना की क्रौंची'
शिकायत है
विद्युत के बाण से ?
निषाद विज्ञान से ?
आदमखोर ज्ञान से ?
वैसे कंदर्प ने भी
छोड़े थे बाण कभी
फूल की परम्परा में
शूल दिखे आज हैं
जब मनोजाचार्य ने
दिल के सब कोने
बेपर्द हैं कर दिए !
और यदि इसीलिए

रुद्ध है
मन का क्रौंच
तो हे भाई
    हे भाई
विरासत है।
        नारद तो होंगे ही आसपास,
            और छन्दास,
        किन्तु क्या वाल्मीकि भी आज
        भेजेंगे नर को नारायण के पास ?
केन्द्र को परिधि से
बाँधने का इसी से
युद्ध है
और यह जरूरी
निहायत है।

● कुछ मत चाहो

कैलाश वाजपेयी

    कुछ मत चाहो दर्द बढ़ेगा
    ऊबो और उदास रहो !

आगे पीछे एक अनिश्चय
एक अनीहा एक वहम
टूट बिखरने वाले मन के लिये व्यर्थ है कोई क्रम !
चक्राकार अँगार उगलते पथरीले आकाश तले—
    कुछ मत चाहो दर्द बढ़ेगा
    ऊबो और उदास रहो !

यह अनुर्वरा पितृभूमि है
धूप झलकती है पानी
खोज रही खोखली सीपियों में चाँदी हर नादानी !
ये जन्मान्ध दिशायें दें आवाज़ तुम्हें इससे पहले—
    भटको और निढाल छोड़ दो
    भरी भीड़ में अपने को !

मुर्दा नक्षत्रों के साये सी
जल डूबी चट्टानें
टकरायेगा इनसे कल जलयान तुम्हारा अनजाने !
निष्कृति क्योंकि नहीं दूसरी और रुको इसलिये यहीं—
रहने दो विदेह ये सपने
बुझी व्यथा को आग न दो !

तम के मरुस्थलों में तुम
मणि से अपनी यों अलगाये
जैसे आग लगे आँगन में बच्चा सोया रह जाये !
अब जब अनस्तित्व की दूरी नाप चुकी असफलतायें—
यहीं विसर्जन कर दो 'यह ज्ञान'
गहरे डूबो साँस न लो !

● उपकृत हूँ

गजाननमाधव मुक्तिबोध

हे प्राणों के सहचर !
जीवन के झरने के तल की बालू भरी ज़मीन
तुरत उठ आती ऊपर ;
अपनी खुली-खुली आँखों में
ज्यों यथार्थ निष्ठुर उठ आता,
मन के सारे कोमल सपने छीन।
कि एक निष्कलुष वास्तव सीमाहीन
कि बालू भरी ज़मीन रुपहली आत्मवंचना-हीन ,
तुरत उठ आती ऊपर ;
धुँधले दैनिक सपनों के सब
कट जाते नीले जल के थर।
छू लेती जब तेरे मन की माया
मेरा-जीवन कूल,
हृदय में उठ आती है
बालू भरी ज़मीन रुपहली
अन्तः सरिता तल की।
पल में साफ भाप होकर

उड़ जाते
भावों के कृत्रिम सर और सरोवर।
केवल अन्तः प्रकृति स्वच्छतर
अपने पूर्ण रजत वास्तव में उठ आती है,
एक कठोर सहज उत्तर-सी।
हे प्राणों के सहचर!
मेरे अन्तर के, प्रकाश—विह्वल पृथ्वी के
चारों ओर घूमने वाले हे कोमल ग्रह!
साथ-साथ रवि-पथ पर चलने वाले साथी!
कितनी मूल्यवान है तेरे
प्रगतिमान तन-मन की छाया;
कितना मूल्यवान, जो तेरी
मीठी मुस्कानों के पीछे निष्ठुर व्यंग्य समाया,
जिसकी छिपी-छिपी चोटों से
फट जाती धुँधले सपनों की माया।
भयकर आत्म-वंचनाओं ने
झिलमिल चिलमन उतार डाले,
स्नेह-मधुर आदर्शवाद ने अपने गोपन
काले गह्वर उघार डाले!
इनके अन्तर अन्तराल में
क्षुधित अहं के तृषित व्याल-कुल
चलते रहते नीरव ओझल!

शब्द-मात्र हैं, गान मात्र हैं
किन्तु न उनका गायक पूरा, कान्ति-मनस्वी।
सहज यश-अर्जन भी कितनी घोर वंचना!
अपने प्राणों का दैनिक उत्सर्ग कठिन है!!

हे प्राणों के सहचर!
केवल एक व्यंग्य से तुमने मेरे मर्म स्थल में
कितनी कठिन यातनाओं के गहरे अर्थ भर दिये,
मानो सारा विश्व मिल गया मुझे एक दम।
और खुल गयीं तहें मानवी छुपे मर्म की।
कुटिल प्रश्न के कठोर उत्तर-सी निर्भय हो
राहें भी चल पड़ीं हुलसतीं सर्व दिशाओं में।

• विश्वास की साँझ

गिरजाकुमार माथुर

कुछ न पाया जिन्दगी में
रही साँझ अनाथ
लौट आये युद्ध से हम
हाय खाली हाथ
आज तक मानी नहीं
वह आज मानी हार
एक था विश्वास
वह भी छोड़ता है साथ
अब अकेला हूँ झुका है माथ
सरल होगा आखिरी आघात

कहा मैंने नियति से
सब खत्म कर दे
लूट ले
एक मेरी आस्था,
विश्वास रहने दे
नियति बोली
आस्था वाले
अरे ओ होश कर
जिन्दगी में साथ देता है
कभी कोई बशर
असलियत से युद्ध होता है निहत्थे
जान ले
इसलिए तू
पूर्व इसके
कवच कुण्डल दान दे

● धर किंशुक चरण मंद

घर किंशुक चरणमन्द, सखि री आया वसन्त !

गिरिधर गोपाल

नभ में जितने तारे धरती पर फूल खिले,
डूबीं गिरिमालाएँ इतने मधुकोष खुले,
कण कण से फूटा सौन्दर्य अछूता अनन्त !
केसरिया कुंजों में भौंरे पथ भूल गये,
नदिया की बाहों में बेसुध हो कूल गये,
गन्ध के हिंडोले पर भूल रहे दिगदिगन्त !
टूट रहे बंध घड़ी घड़ी उठे अँगड़ाई,
प्रीति प्रणय माँग रही चिर प्यासी तरुणाई,
टेर रही कोयलिया आओ घर लौट कन्त !

● खेत पके धान के

चन्द्रदेव सिंह

खेत पके धान के
सपने किसान के
पूरने लगे।

पिअराई फसलें—सोने के गहने
धरती ने हाथों में पावों में पहने
नाकों के बेसर ये झुमके हैं कान के।
खेत पके धान के···

पकी-पकी बालियाँ, भरे-भरे दाने
छागल की छम-छम, पायल की तानें
बिछुआ के होठों पर गीत हैं गुमान के।
खेत पके धान के···

दूर हुई चिन्ता, दूर हुई बाधा
अनब्याही अब न अधिक रह सकती राधा
साँवरिया की बंसी झोंके तूफान के।
खेत पके धान के···

खेतों में अगहन, सुधियों में सावन
बरगद की छाया भी लगती जुड़ावन
चरवाहे चलते हैं छाती उतान के।
खेत पके धान के···

● कछार के खेत

जगदीश गुप्त

हरे खेत कछार के
कुछ धार के—
इस पार के
कुछ धार के—
उस पार के,
हरे खेत कछार के···

झुंड तोतों के उतर आये हज़ारों
भूमि पर
चौकोर घेरों में;
चुप इन्हें देखो—
नहीं उड़ जायँगे हरिअरे पंख पसार के।
हरे खेत कछार के···

झोंपड़े, सुथरे छये कुस-फूस-काँसों से
पड़े बीचोबीच पाँसों से,
जल-भरी गगरी लिये चलतीं सँभल कर काछिनें
घनी चौपड़ में बसी रंगीन गोटों सी,
रह गयी भू पर बिसात बिछी हुई,
उठ गये सारे खिलाड़ी हार के।
हरे खेत कछार के···

तैर जाती आँख तोतों की हरिअरी पाँत में
बसी गोटों, पड़े पाँसों और बिछी बिसात में।
विरस दिन भर का थका मन, दहकता माथा
टेक देता हूँ
रेत की ऊँची धवल सुकुमार मेड़ों पर—

रहीं जो गूँजती अब तक
दूर ऊँटों के सुदीरघ कंठ की लघु घंटियों के
टुनकते स्वर से।
चिह्न मिट जाते लहर के, भार के।
हरे खेत कछार के...

● तेरे रूप का अंगार

जानकीवल्लभ
शास्त्री

यह शरद की धूप तेरे रूप का अंगार!
प्रेम-हेम तपे; बने कुन्दन, बने शृंगार!!

हरसिंगार झरा किए हैं;
नयन तेरे श्वेत या रतनार—
सौरभ-पान-पात्र भरा किए हैं;
छूटता ही रहा है प्रति-प्रात वह संस्कार!
था बना सावन गगन-सा जो सघन, दुर्वार!!

अब खुले में है खिली छवि;
मुख-कमल—सुषमा-सहस-दल खोल—
खुलता आ रहा है तरुण वय रवि,
विकल कोलाहल प्रभाती स्वर्ण-नूपुर-ज्ञार!
चरण से लिपटा हुआ आकाश है अविकार!!

लालसा की लौ उगलती;
विष-घुली स्मृति-सी सुधा की उजलती—
मणि दीपिका-सी सजल जलती,
तू प्रतीची की पवन का प्राण-वन-अभिसार!
तू शरद-मद-उल्लसित-बाहु मुक्त प्रसार!!

● ज्वार

ज्वालाप्रसाद खेतान

चाँदनी फैली
छिप गये तारे,
छिप गये आकार—
सब जो दीखते थे
दूर तक फैले किनारे

एक सा है रंग
पिघलता जा रहा है संयम
रूप के उत्ताप में।
समेटो चाँद अपनी चाँदनी
सागर मचलता है,
खोखली मरजाद
रोक पायेगी नहीं
यह वासना का—
ज्वार जगता है।

● जामुन की कोंपल सी

ठाकुरप्रसाद सिंह

जामुन की कोंपल सी चिकनी ओ!
मुझे छिपा आँचल में
जाड़ा लगता है क्या भीतर आ जाऊँ!

फूलों की मह मह सी रानी ओ!
मुझे ढाँक बालों में
बादल घिरते हैं क्या भीतर आ जाऊँ?
मुझे छिपा
मुझे ढाँक
आँचल से बालों से
जामुन की कोंपल सी चिकनी ओ!

● इन्द्रधनु

त्रिलोचन

कल
कड़कती धूप में
जो इन्द्रधनु
भौं पर
कहीं से आ गया था
आज
मैंने उसे चुपके बादलों पर रख दिया
इन्द्रधनु आकाश में ही
भला लगता है

इन्द्रधनु
आया गया चुपचाप
कोई जान पाया बात
कोई नहीं
किन्तु उसके रंग सातों
क्यारियों में धान की
लहरा रहे हैं
इन्हीं आँखों देख कर
मैं आ रहा हूँ

● दृष्टान्त

दुष्यन्तकुमार

वह चक्रव्यूह भी बिखर गया
जिसमें घिर कर
अभिमन्यु समझता खुद को।

सारे आक्रामक चले गए,
आक्रमण कहीं से नहीं हुआ,
बस मैं ही दुर्निवार तम की चादर जैसा
अपने निष्क्रिय जीवन के ऊपर फैला हुआ पड़ा हूँ।
बस मैं ही एकाकी इस युद्धस्थल के बीच खड़ा हूँ।

यह अभिमन्यु न बन पाने का क्लेश,
यह उससे भी कहीं अधिक क्षत-विक्षत मन का वेश,
उस युद्धस्थल से भी ज्यादा भयप्रद…रौरव मेरा हृदय-प्रदेश !
इतिहासों में नहीं लिखा जाएगा !

ओ तम में छिपी हुई कौरव सेनाओ !
आओ !
हर धोखे से मुझे लील लो,
मेरे जीवन को दृष्टान्त बनाओ ।
नए महाभारत का व्यूह वरूँ मैं—
कुंठित शस्त्र भले हों हाथों में
लेकिन
लड़ता हुआ मरूँ मैं !

● राग

दूधनाथसिंह

वह अकेली जलबतख थी साँझ की
धार उल्टी काटती ही रही
फिर भी धूप के निर्जन किनारे बह गयी ।

मर गये हैं रात की ठंडी मुँडेरों पर
विलासी, अस्थिशेष कपोत,
आँख के बल चल रहे विश्वास
अगिन-फूलों से उजाला फेंकते वे हाथ…
आज गीले पंख उनके नोच
नंगी व्यथा को अपदस्थ कर दूँगा
घिसटी बरुनियों की शक्ति
कोयले की फर्द ओढ़े उजाले की भक्ति
को मैं नष्ट कर दूँगा !
अप्रमेय विहाग में यह ध्वंस की परिमिति
दूरियों की माप; झूठी शपथ
फिर नया अथ—
भूमिका कोई समापन की, नयी इति…

मैं हर नये प्रारम्भ को स्वीकार कर लूँगा
हर नयन में शान्ति अपनी छोड़ कर
निश्वास भर लूँगा।

अघोरी ईश्वरों की लुंज छायाएँ
प्रसाधनहीन, बूढ़ी, घृण्य मायाएँ
मुझे भटकाती रहीं जो धूर्त ममताएँ...
आज से इस ज्ञान के भूगोल का
मैं अन्त कर दूँगा!

+ + +

लेकिन
अशब्दी कुहराम में डूबे हुए क्या
हमेशा बजते रहोगे तुम?
....

काश! तेरे शब्द
केवल बुलबुले होते।

● एक गीत-चित्र

देवराज

रात के अँधेरे की पंक से कढ़ा
सुबह का लो लाल कमल बड़ा
जागी प्रिया-प्राची के खुले, गोरे भाल पर
अम्बर ने सिन्दूरी केसर ले
चुम्बन-सा गोल तिलक जड़ा।
अकस्मात अँगड़ाई ले उठी सृष्टि के
मुकुल-दृगों, गालों पर गुलाबी
किसी कामी-प्रियतम का ज्योति-प्यार
बरबस बरस पड़ा।
क्रमशः निज किरन पंख फैला, फड़फड़ा
मकरन्दी आसव पी, हौसला बढ़ा
नभ की उस नीली, ऊँची डाल पर
एक पंछी चढ़ा!

● साबुत आइने

धर्मवीर भारती

इस डगर पर मोह सारे तोड़
ले चुका कितने अपरिचित मोड़

पर मुझे लगता रहा हर बार
कर रहा हूँ आइनों को पार

दर्पणों में चल रहा हूँ मैं
चौखटों को छल रहा हूँ मैं

सामने लेकिन मिली हर बार
फिर वही दर्पण मढ़ी दीवार

फिर वही झूठे झरोखे द्वार
वही मंगल चिन्ह बन्दनवार

किन्तु अंकित भीत पर, बस रंग से
× × ×
अनगिनत प्रतिबिम्ब हँसते व्यंग से

फिर वही हारे कदम की होड़
फिर वही झूठे अरिचित मोड़

लौट कर फिर लौट कर आना वहीं
किन्तु इससे छूट भी पाना नहीं

टूट सकता, टूट सकता काश
यह अजब सा दर्पणों का पाश

दर्द की यह गाँठ कोई खोलता
दर्पणों के पार से कुछ बोलता

यह निरर्थकता सही जाती नहीं
लौटकर, फिर लौट कर आना वहीं

राह में कोई न क्या रच पाउँगा
अन्त में मैं क्या यही बच जाउँगा

बिम्ब कुछ आइनों में भटका हुआ
चौखटों के क्रास पर लटका हुआ

● एक अर्धसुर यथार्थवादी कविता

नलिन विलोचन शर्मा

चादर की रेत की चौपाटी
के सामने फेन—धवल तरंगें
लहराती हैं : मसहरी के बाहर
पंखा आँधी उठा रहा है और
मसहरी हिल रही है ।
दूसरी तरफ, बिस्तर के बाहर
बिजली की बत्ती है
जो चाँद की जगह नहीं ले पाती,
शीशे में बंद सूरज है,
जिसके प्रकाश में
मैं अनंत सागर के बीच
किताब की नाव में
अपने को बहने दे रहा हूँ ।
नाव चूर चूर हो गई,
मैं मझदार में हूँ,
नींद भी आ रही,
पुस्तक खत्म···
नायिका ने जहर खा लिया है ।

● कौन वह किशोरी ?

नरेन्द्र शर्मा

थिरकती कुरंदी-सी
कौन वह किशोरी ?
निरखती विमुग्ध उसे
दृष्टि रंग - बोरी !

खेल रही खेतों में कौन वह कुमारी ?
फूल रही कमर तलक सरसों की क्यारी !
गुन गुन गुन फागुन
गुन गाती है गोरी !

फूलों में गुँथी हुई वेणी की शोभा!
भँवरों ने आज हृदय फूलों का लोभा!
पंचवाण मनसिज की
पुष्प - धनुष - डोरी!

गीत में अनागत की करती अगवानी,
अनदेखे राजा की अनदेखी रानी!
बहुत बड़ी आँखें हैं,
उमर बहुत थोरी!

आँचल में पुष्पराग, आँखों में हीरे!
पर वह आ रहा कौन पाँव दबा धीरे?
कान्हा की वेणु बनी
हरी हरी पोरी!

किंशुक हो गए लाल, बालिका लजाई!
कान्हा के अधर-धरी बाँसुरी बजाई!
झरी पकी खिरनी या
नीम की निमोरी!

देखे उस जोड़ी को बीत गए बरसों,
पल पल कर, कल कल कर, कल से कर परसों!
सरसों है वही,
हुई बरसों की चोरी!

● बोलने दो चीड़ को

नरेश मेहता

पहाड़ी साँझ
झरते मार्ग
अकासी नील गहन कनात;
बोलने दो चीड़ को—
काफल कहीं पर पक चुका है।

किस उत्साह से
ये टूटते हैं जल—

मैदान इनकी प्रतीक्षा में
जल रहे हैं।

पहाड़ी बाट पर चलते हुए
एकान्त लगता है।
पथ तो एक
लेकिन
यात्राएँ नहीं।
घाटियों के खिंचे मुख पर
घर लिखे हैं;
मोड़ के उस पार से ही
गन्ध देते हैं।

अँधेरा पग ओर से
बढ़ आयगा
जब तक शिखर दिखते रहेंगे।
सम्बन्ध सी यह टूटती ही जायगी सन्ध्या
देर तक
क्षितिज के पाऽऽर—

बोलने दो चीड़ को
काफल कहीं पर पक चुका है।

● एक लड़की

नागार्जुन

कदम कदम पे मुस्काती है!
बात बात पे हँस देती है!
दिल का दर्द कभी नहीं जाहिर करती है!
सच बतलाना, कभी उसाँस नहीं भरती है?
मुझको तो लगता है, तूने बहुत बहुत सा जहर पिया है
धीरे-धीरे सारा ही विष पचा लिया है
शोधित विष का सुधातुल्य यह झाग जब कभी
उफ़क उफ़क कर बाहर आता
दुनिया को लगता है: रे रे! पारिजात के फूल झर रहे

इस लड़की के होठों से तो······
क्या अजीब नेचर पायी है···
पग पर यूँ ढेर ढेर सा हँस देती है······

खुली एक दिन मुझसे बोली :
"बाबा पिछले छः वर्षों से गूँगी हूँ
मिला न कोई, मिली न कोई—
जिसके आगे अपने दिल की बातें रखती;
यूँ तो बीसों से परिचय है
बोलचाल या हँसी खुशी के अवसर आते ही रहते हैं
फिर भी मैं गूँगी हूँ बाबा !
कभी कभी तो लगता है कि इस दिल दिमाग को
कहीं न लकवा मार गया हो
पागलखाने में भरती हो जाऊँ बाबा ?···"

यह सब सुन कर मैंने उसको मीठी-सी फटकार बतायी
और कहा—"चल ओ री बौड़म !
मद्रासी होटल में जाकर हम दोनों इडली खा आयें
गरम गरम काफी पी आयें।"
गालों पर पड़ गयीं प्यार की दो चपतें तो लगा
दिया छतफाड़ ठहाका
क्या अजीब नेचर पायी है···
कैसी अद्भुत है यह लड़की···

● गीत

निराला

जय तुम्हारी देख भी ली
रूप की, गुण की सुरीली

वृद्ध मैं अब ऋद्धि की क्या
साधना की, सिद्धि की क्या ?
खिल चुका है फूल मेरा
पँखड़ियाँ हो गयीं ढीली !

चढ़ी थी जो आँख मेरी
बज रही थी जहाँ भेरी

वहाँ सिकुड़न पड़ चुकी है
जीर्ण है वह आज तीली

आग सारी फुँक चुकी है,
रागिनी वह रुक चुकी है,
स्मरण में है आज जीवन
बढ़ रही है रेख नीली।

● वर्जना की उगलियाँ

निर्मला वर्मा

मुझे कोई दोष न दे
कि भरी आँच को
पानी डाल बुझा दिया
उसी का धुआँ क्यों
मुझे ही सालता रहा,
कि थाली फूल की गिरी
झनझनाई
और टूट गई,
मेरे विश्वास
डिगा गई।

कोई मुझ पर हँसे नहीं
कि क्यों मैंने
अपनी ही उँगली एक काट ली
बिन पूजा के, तुम्हारी हर बात
सह ली
अपनेपन को जो बींध गई।

कुछ ऐसी ही विवशता थी
कि हर एक डाल पर
गाते हुए पंछी को
कंकड़ मार उड़ा देना था
तुम्हारी वर्जना की उँगलियों को
चूम भर लेना था।

● प्यार करके

नीरज

प्यार करके जो निभाना ही नहीं था तुझको
किसलिये तू मेरे सपनों के निकट आई थी?
किसलिये होठ मेरे होठ से गरमाये थे!
किसलिये आँख मेरी आँख से उलझाई थी?

मैं तो समझा था तेरी श्याम अलक में गुँथकर
मैं किसी स्वर्ग की बगिया में पहुँच जाऊँगा,
और काजल में तेरी आँख के घुलकर मिलकर
मोती सब मानसरोवर के उठा लाऊँगा!

ज्ञात यह किन्तु नहीं था कि प्यार तेरा भी
रुपहले चन्द ठीकरों का खरीदार ही है,
कैद है तेरी कलाई भी किसी कंगन में
तू भी सोने की घूमती हुई झङ्कार ही है!

तू तो कहती थी कि सूरज के चले जाने पर
जैसे फूलों की हँसी सूख के झर जाती है,
जैसे आँधी के थपेड़े में मोमबत्ती की
काँपती लौ न किसी तौर भी जल पाती है!

वैसे ही तेरी जवानी की महकती चादर,
मेरी बाँहों की जुदाई नहीं सह सकती है,
तू तो रहले भी किसी भाँति, मगर तेरी साँस
मेरे गम में न किसी हाल में रह सकती है!

और अब आज ही तू प्यार को बदनाम बना
अजनबी जाँघ पर सर रख के लेटी है,
और बैठा हूँ मैं हाथों में लिये कुछ तिनके
जब कि नस नस मेरी रस्सी की तरह ऐंठी है!

मखमली नर्म बिछौने की गरम बाहों में
आह! चूड़ी तेरी रह रह के खनकती होगी,
मेरी जब रात अँधेरी है, तेरी रातों में
टिकुली कोई तेरे माथे पै दमकती होगी!

मेरी बगिया में जब एक फूल नहीं, पात नहीं,
तूने तब खुद को गुलाबों से सजाया होगा,
तुझको देखे बिना जब आँख यह घबराई है
तब किसी ने तुझे सीने से लगाया होगा!

उफ! यह बेशर्म दरद अब न सहा जाता है,
जी में आता है कि इस दिल पै अँगारे धर दूँ,
टिमटिमाती हुई इस लौ पै सियाही मलदूँ
और इस साँस को मरघट के हवाले करदूँ!

क्रोध आता है तेरी शोख अँखड़ियों पै मगर
दोष इस सब के लिये दूँ तो तुझे दूँ कैसे?
तेरी मर्ज़ी तो तेरी अपनी नहीं मर्ज़ी है
तू भी मजबूर है, मजबूर हैं हम सब जैसे!

पूँजी - मसनद के सहारे पै टिकी दुनियाँ में
प्यार बिकता है गली - गाँव खिलौनों की तरह,
होता ईमान है नीलाम बर्तनों की तरह
बिछाई जाती है औरत रे! बिछौनों की तरह!

तूने खुद ही न मेरे हाथ का छोड़ा है साथ
तेरी मजबूर गरीबी ही मुझे छोड़ गई,
तू तो हटती न मेरे पथ से किसी कीमत पर
तेरी बदनाम बेबसी ही तुझे मोड़ गई!

अपनी मर्ज़ी से नहीं, दूसरों की मर्ज़ी से
बेचना तुझको पड़ा है जवान तन अपना,
झूठी मुर्दार रूढ़ियों की हिफ़ाज़त के लिये
मारना तुझको पड़ा है शहीद मन अपना!

आदमी इतना है असहाय और निरुपाय जहाँ
ऐसी दुनियाँ में उठो आग लगा ही डालो!
खून जो प्यार का बिखरा है गली - कूचों में
उसकी हर बूँद का सब दाम चुका ही डालो!!

● एक स्पर्श : एक अनुभूति

परमानन्द
श्रीवास्तव

हल्की-सी एक लहर आई
मुझे परस गई—
आकस्मिक संवेदन सी सहसा
मानो मुझ पर काँपी
बरस गई—
हल्की सी एक लहर
इतनी हल्की
जैसे हल्की सी बात—
जैसे चलती फिरती
काँपती सहमती हुई दृष्टि—
जैसे घूमती ठहरती हुई
छाया : आकृति—

अधरों में ऋचाओं सी लहर
मानो आँखों में काँपती हुई पानी की लकीर—
हवाओं में बँटती-बिखरती हुई धुँध सी लहर
मानो बादलों में
हिलते उछलते हुए धुएँ का शरीर !

● याद करता हूँ

पारसनाथ सिंह

याद करता हूँ तुम्हें मैं बैठ नंगी डालियों की छाँव में !

बात सुनता ही नहीं लुटता हुआ पतझार मन,
भटकता पछुवा सरीखा मैं लहकते बाँस-वन,
झाड़ियों से आ रहा फिर भी नहीं काँटे चुभे क्यों पाँव में ?

बढ़ रही दूरी सिमटते से दिखे पग चिह्न अब,
देख पीछे उभर आते नयन पर वे चित्र सब,
जहाँ बैठा हूँ न तुम क्या कभी बैठी हो यहाँ इस ठाँव में ?

गीत संगी हैं हवा में मौन बहने के लिये,
पास स्वर भी हैं हृदय की बात कहने के लिये—
पहुँच पाते पर नहीं क्यों प्राण मेरे स्वर तुम्हारे गाँव में ?

• एक षटपदी

प्रभाकर माचवे

'बहुत दिनों बाद मिले, नमस्कार-नमस्कार'
'कैसे हैं, करते हैं क्या कोई व्यापार ?'
'नहीं, यही फ्री-लांसिंग हिन्दी में लिखता हूँ :
रुपया कुछ देंगे क्या मुझे दसबीस उधार !'
'नहीं, मेरे पास नहीं, कुछ भी अब बचा यार,
मैं भी अब प्रिय मित्रवर, हिन्दी में लिखता हूँ !'

• कवि

प्रभातरंजन

वह वस्तु हर
अथ-अस्तु हर
जो मुझे व्याकुल तीव्रता से सदा ईहित रही
अंतरंगित किसी दर्पण मौन सम्मुख
एक अंतिम और घिरते अँधेरे में—
वह उसी प्रतिकूलता से घृण्य भी थी ;

किसी भी आकाश की सित अजानी गहराइयों तक
ले चलीं जो मुझे बादल-सीढ़ियाँ वे
एक निर्मम मौन में सब
छिन्न भी थीं ।

मैं मुग्धकारी गूँजते संगीत सा हूँ
अर्थहीन ! क्रियात्मक स्पन्दता की
चीख़ती, व्याकुल
मशीन ।
हर वस्तु पर अंकुश मेरा
डरता स्वयम् से हूँ
ब्रह्माण्ड से मैं प्यार !
कण कण से घृणा
मैं हूँ !

• आह ! उदासी

प्रयाग शुक्ल

आह ! उदासी की लहरों में,
फिर उन आँखों का तिर आना।

डूबे, डूबे सपन कहीं के
धुँधली सी पड़ गयीं दिशायें,
काँप, काँप कर कुछ दे जातीं
उड़ती, उड़ती सर्द हवाएँ;
एक निमिष में, इन पलकों पर
ठंडी बूँदों का गिर जाना।

दूर दूर तक केवल लहरें
बस केवल छप-छप नौकायें,
घिरती, झुकती शाम यहाँ की
सुधियाँ पल भर में बौरायें;
बीत गये हर भीगे क्षण की
अंधी गतियों को फिर पाना।

और कहाँ तक ऐसी भटकन,
और कहाँ तक सुधि के मेले
सूनेपन की इन बाँहों में
बँध रह जाना, आह ! अकेले,
अनजाने क्षितिजों में फिर फिर
ठंडे मेघों का घिर आना।

• प्यार कर सकता तुम्हें था

बच्चन

सुमुखि तब मैं प्यार कर सकता तुम्हें था।

भौंह की तलवार से रक्षित तुम्हारे
युग दृगों को यदि चुराता
और ले जाकर उन्हें मैं उस नदी के
बीच नहलाता धुलाता,
जो खुशी के और ग़म के आँसुओं को

साथ लेकर बह रही है,
और जिसकी हर लहर इन्सान की सुख-
दुःख कहानी कह रही,
सुमुखि तब मैं प्यार कर सकता तुम्हें था।

सीख माँ की, बाप की, अध्यापकों की
बात पुस्तक से उठायी,
चुटकुले हमजोलियों ने जो सुनाये—
बस यही जिनकी कमाई,
कान को ऐसे चुराता यदि तुम्हारे
और ले जाता वहाँ पर
स्वर्ग का उल्लास, नरकोच्छ्वास दोनों
साथ सुन पड़ते जहाँ पर,
सुमुखि तब मैं प्यार कर सकता तुम्हें था।

चरपरापन चटपटे का औ 'मलाई
के बरफ की ठंड जानी
जिस अधर ने, जीभ ने, गन्ने-गँडेरी
में रसों की सब कहानी,
मैं उन्हें ले जा अगर संसार, जीवन,
प्यार की तह को छुलाता,
और हालाहल, सुरा के औ' सुधा के
स्वाद से परिचित कराता
सुमुखि तब मैं प्यार कर सकता तुम्हें था।

साँस आती और जाती है इसी से
जो हृदय दबता उभरता,
और अपनी धौंकनी-सी हरकतों से
रक्त को जो शुद्ध करता,
उस हृदय के साथ लग जब ज्वार-भाटा
भावनाओं को बताता,
और अपनी धड़कनों से उन कपाटों
की खिड़कियाँ खटखटाता,
बन्द जिनमें भेद हैं जिनको अकेला
कवि जमाने को सुनाता,
सुमुखि, तब मैं प्यार कर सकता तुम्हें था।

● प्रेजेन्टेशन्स

बजरंग वर्मा

बॉस की
बेटी की शादी है,
मीत के
मुन्ना का 'बर्थ-डे' !
बेटी
शुभकामनायें नहीं लेगी
न मुन्ना आशीर्वाद !
दोनों समझदार हैं !
और हम, (—जो आमंत्रित हैं)
उनके बाप के
करजदार हैं !!

● उत्तर न होगा वह

बालकृष्ण राव

कोई दुख नया नहीं है
सच मानो कुछ भी नहीं है नया—
कोई टीस, कोई व्यथा, कोई दाह ।
कुछ भी, कुछ भी तो नहीं हुआ···

फिर भी न जाने क्यों
उठती सी लगती है अन्तर से एक आह;
जाने क्यों लगता है
थोड़ी देर और यदि ऐसे ही,
स्नेह-भरे आग्रह से,
पूछोगे बार बार,
छलक पड़ेगा मेरी आँखों से अनायास
प्रश्न ही तुम्हारा यह,
मेरी अश्रु धारा में
प्रतिस्राव होगा वह रिसते संवेदन का
उत्तर न होगा वह ।

● जीवन तो संयोग-मात्र है

बालस्वरूप राही

तन-मन-धन सब तुम्हें समर्पित, जैसे रखो प्राण,
रह लेंगे।

अपना क्या है, नियतिपवन में तृणसे उड़कर आ निकले हैं,
जाने किस नगरी से आए, जाने किसके गाँव चले हैं;
डगर डगर पर भटक चुकी है, यह मुट्ठी-भर धूल हमारी
जाने कितने रूप धरे हैं, जाने कितने घर बदले हैं!

किसी फूल ने कंठ लगाया, तो शायद सुरभित
हो जाएँ,
और अगर जा गिरे मरुस्थल में तो भी क्या है,
दह लेंगे।

कितने रोज बसे मधुबन में, कितने रोज बसाए निर्जन,
हर सम्भव कोशिश कर देखो, पर न बहल पाया उन्मन मन,
स्वप्न और आँसू में शायद जन्म-जन्म का बैर भाव है,
सपने स्निग्ध-चरण होते हैं, चलते सदा बचा कर फिसलन!
हम कब इतने हुए व्यवस्थित, किसी सृजन का श्रेय
कमाते,
निर्मित हुई हमारी इसीलिए कि ढहें, क्या है
ढह लेंगे!

इससे क्या आशाएँ बाँधें, जीवन तो संयोग-मात्र है,
सबसे अधिक सुखी है वहही, अधिक सभी से जो अपात्र है,
क्योंकि भाग्य जन्मांध, किरण के अहंभाव को क्या पहचाने,
राज्य तिलक कर देता उसका, जो फैलाता दानपात्र है!
हमने शीश उठाये रख कर पाप किया है,
हम भोगेंगे,
जीवन का हर व्यंग्य बधिर की भाँति सहज मन से
सह लेंगे।

पाप हमारे किए तिरस्कृत, केवल निर्मल पुण्य सराहा,
जिसने भी इस भरे जगत में, चाहा हमें—अधूरा चाहा,

तुम इतने निष्काम, हमारा कलुष तुम्हें पावन लगता है,
चहल पहल से अधिक अकेलेपन में तुमने साथ निबाहा !
इसीलिए अविभाजित मन से हम सम्पूर्ण समर्पित
तुम को,
अगर डुबाओगे डूबेंगे, अगर बहाओ तो बह
लेंगे !

तन-मन-धन सब तुम्हें समर्पित, जैसे रखो प्राण,
रह लेंगे !

● गीतों का नुस्खा

भवानीप्रसाद मिश्र

शरद् की शाम लो और उसमें थोड़ी चाँदनी घोलो,
कि फिर उसमें जरा फूलों भरी घाटी रंग रोलो;
झुका दो झाड़ियों की उसमें फिर मस्तीभरी झूमें,
पहाड़ों की चुकादो चोटियाँ इतनी कि नभ चूमें;
लचीली तेज-रौ नदी की धारा एक ला छोड़ो,
कि उसमें दूर पर दिखती हुई नावों को ला जोड़ो;
चहक बुलबुल की जितनी मिल सके, उतनी मिला दीजे,
नशा तैयार है चाहे जिसे लेकर पिला दीजे !

खड़ा कर दीजिए उसको नदी के तीर पर जाकर,
तो उसको ये लगेगा क्यों न देखूँ आज मैं 'गाकर'
अगर उर्दू जबाँ है उसकी तो वह गजल गाएगा,
अगर इंगलिश से निस्बत है, तो वह सीटी बजाएगा !
मगर इस राष्ट्र की भाषा जो उसकी मातृभाषा हो,
तो छुपकर देखिए करता है कैसा क्या तमाशा वो;
उसे हर्गिज नहीं सूझेगी मीरा या महादेवी,
उसे तो यह लगेगा वह स्वयं साहित्य का सेवी;
वो लेकर कलम-कागज हाथ में, कुछ गुनगुनाएगा,
अगर दिख जाएगा कोई तो उसको जा सुनाएगा !

इसीसे कह रहा हूँ मैं कि छुपकर देखते रहिए,
नजर ही आप जो आ जाएँ उसके गीत को सहिए;
वह जी हाँ, उस अजूबा चीज ही को गीत कहता है !

यह मैंने बहुत दिन बीते लिखा था, डाल रक्खा था;
कि इसको नजर से अपनी भी मैंने टाल रक्खा था;
वजह यह थी कि मैं भी तो कवी हूँ, भाई हिंदी का,
मुझे डर था बना बैठूँ न खुद ही साँप चिंदी का
नशे में किसी दिन भूलूँ कि मैंने लिखा था इसको,
भड़कने जोर से लग जाऊँ, जाने क्या कहूँ किसको;
कि हिंदी कवि बड़ी गुस्सैल-सी एक चीज होता है,
मजाक उसके लिए झगड़े का खासा बीज होता है;
बहुत से पत्र हैं, जिनके एडीटर इस तरह के हैं,
कि जिनने गीत लिक्खे हैं—न पूछो किस तरह के हैं!
मुझे डर है कि इस मजमून को वह सूँघ पायेगा,
तो उसका पत्र जितने दिन चलेगा जान खाएगा;
तो इसको डाल रक्खा था, कि इसको टाल रक्खा था,
मगर अब सोचता हूँ, यह लिखा छप जाय तो अच्छा,
किसी एकाध के भी जी में यह गप जाय तो अच्छा!
भले एकाध भी पढ़कर इसे गीतों की धुन छोड़े,
भले एकाध भी कुछ ढंग से लिखने पर मन मोड़े;
किसी एकाध के भी गीत यदि यह चर गयीं भाई,
तो मेरी यह लकीरें काम अपना कर गयीं भाई!

● रस तो अनन्त था

भारतभूषण
अग्रवाल

रस तो अनन्त था
अँजुरी भर ही पिया
जी में वसन्त था
एक फूल ही दिया

मरने के दिन आज मुझको याद आ रहा
इतनी बड़ी दुनियाँ में
कितना छोटा जीवन जिया।

● कविता

मनोहरश्याम जोशी

कविता मारती है
दुख सुख के कर्ता कर्म औ' उपकरण को
सबको कविता मारती है।
बस स्वयम् को ही
एक पथरीले अहं को ही वह तारती है।
कविता मारती है···

● सुबह

मलयज

सुबह
आकाशों के थन से, गर्म गर्म दूध
कलईदार बर्तनों में भरता है।

आवरणहीन
रोज हम ठिठुरते हैं—
जीने को क्या जियें ?
गहरे और गहरे क्या उतरें ?
ऊपर महज़ फेन है···

बस कुंठा की गंध-दूषित नलियों के मुहाने पर खड़े
रोज हम कोसते हैं
'राम करे आकाश का बछड़ा बिला जाय
'काँजी-हाउस' में बन्द हो
············मर जाय।'

लेकिन बछड़ा मरता नहीं
रोज़ सुबह आता है
रोज़ हम ठिठुरते हैं
रोज़ फेन पीते हैं।

थन पर बने हुए नाखूनों के चिन्ह ही
क्या हमें झिझोड़ते हैं!

● आँखें आज निहाल हो गयीं

माखनलाल चतुर्वेदी

कुबड़े पुल पर, उखड़े तट पर
उस बीते-से वंशीवट पर
यमुना की ताज़ी हिलोर पर
मलयज के मुहजोर शोर पर
बानिक छवि बेहाल हो गयी
आँखें आज निहाल हो गयीं।

संशय सन्तों-सा घर आया,
मन मथनी-सा भर-भर आया,
टेढ़े मग, बे-बँधी धार पर
इस चढ़ाव पर उस उतार पर
सुधियाँ मालामाल हो गयीं
आँखें आज निहाल हो गयीं!

मन पर, उस एकान्त गगन पर
महाशून्य के उजड़ेपन पर
खोने से पाये बन्धन पर
आने से बिछुड़े जीवन पर
अभिशापिनी! कमाल हो गयी
आँखें आज निहाल हो गयीं!

● तितलियाँ

माणिकचन्द्र बच्छावत

तितलियों का एक संग्रहालय

तितलियाँ
भिन्न-भिन्न रंगों की
भिन्न-भिन्न ढंगों की
सजाकर
सटाकर
चिपका कर
काँच के शो केसों में रखी हुई।

प्रत्येक का
अलग अलग नाम
अलग अलग धाम
और उनका इतिहास सन् संवत् के साथ
साफ साफ लगा हुआ ।

कभी ये स्वच्छन्द
हवा की लय पर मन्द
इधर उधर फिरती तिरती
शायद किसी हरियाली पर बैठ खोयी रही होंगी
ऊँघती सोयी रही होंगी
कि संग्राहकों ने इन्हें
पकड़ कर
काठ के पट्टों पर
बींध बींध यहाँ यूँ ला रक्खा ।

अब ये मरी हुई
संग संग धरी हुई
सुन्दरियों की कब्रों सी !
इनके एपिताफ
हमारी कला-कद्रदानी
की निशानी हैं ।

● निष्कलंक

रघुवीरसहाय

यदि मैंने केवल आशा में जन्म बिताया हो
यदि मैंने अपनी इच्छाएँ आने दी हों
जैसी भी वे आना चाहें
यदि इस तृष्णा से फूटी हों कई अनर्गल आकांक्षाएँ
यदि जो चाहा वह न मिला हो
यदि स्वीकार किया हो मैंने जो पाया हो
तो मेरे परमेश्वर मुझको क्षमा न दो

यदि यह व्यथा विलासी की हो
अथवा यदि यह एक व्यथा हो
यदि इस दुःख की एक दवा हो
यदि मैंने खोजी हो निष्कृति फैला आलिंगन की बाहें
करुणामय नारी यदि मैंने दासी की हो
यदि यह ही प्रतिकार व्यथा का कर आया हो
तो मेरे परमेश्वर मुझको क्षमा न दो

पर मेरी आसक्ति सरल है
पर सच यह है इस दुःख में अथवा उस सुख में
मैंने चाह तुम्हारी की है
विरक्त मन, विशृंखल जीवन—
यह क्या कम है—बतला सकता हूँ वह छवि किस नारी की है!
यदि जो सादा और सरल है वही मुझे भाया हो
तो मेरे परमेश्वर मुझको क्षमा न दो

● माटी का मेला

रमानाथ अवस्थी

इस माटी के मेले में
मन का सौदा असली है
बाकी सब कुछ नक़ली है

बिकने को तो सब कुछ बिकता है मरघट की हाट में
गठरी बिकती बाज़ारों में, ठठरी बिकती घाट में
सभी तरह के सौदागर हैं, सभी तरह की दूकानें
मिलने-मिलने में होती हैं, मरने वाली पहचानें
मिलने और बिछुड़ने में
मिलना ही भर असली है
बाकी सब कुछ नक़ली है

राजकुमारी से भी प्यारी तसवीरें बिकती यहाँ
लोहे से लेकर आँसू की जंजीरें बिकती यहाँ
हर लेने-देने वाले के सँग अंधी तक़दीर है
राजा जैसा कभी बनाती करती कभी फ़क़ीर है

लेनी-देनी नगरी में
देना ही भर असली है
बाकी सब कुछ नक़ली है

महलों की रंगीन रोशनी काली—काली रात में
अंगारों सी लगती उनको सोए जो फुटपाथ में
मानव-मानव का यह अंतर, विष मानवता के लिए
प्यार बिना कैसे कोई भी यह विषमय जीवन जिए ?
मानवता के सागर में
बूँद प्यार की असली है
बाकी सब कुछ नक़ली है

भीड़ भाड़ है वही पुरानी लेकिन लगती है नई
इसे जीतने के लालच में आयु पराजित हो गई
जनम-मरण की रंगभूमि में खेल अश्रु औ' आग का
हर इंसान धुएँ सा लगता बुझते हुए चिराग़ का
जनम-मरण की मंज़िल में
मरना ही भर असली है
बाकी सब कुछ नक़ली है

● शीशे की माया

रमासिंह

टूटे से शीशे में
टूट गई परछाई;
काँच की दरारों में
आँखें ही भरमाईं।

कहते हैं विभ्रम है—
मिथ्या प्रतिछाया है;
अपना ही अक्स सही
शीशे की माया है!

द्वन्द्व और दुविधा में
किन्तु कौन तर्क गुने ?
कैसे मन धीर धरे
आकृति जब विकृति बने ?

● सूने घर का गीत

रवीन्द्र भ्रमर

बिना पुकारे शून्य सदन में
नाम तुम्हारा गूँजे मन में।

छत से दीवारों से छनकर,
बिन बरखा की बरखा बनकर,
प्रान उमगते दृग दर्पन में—
रोके, पीर रुके ना तन में।

ताख धरे दीपक की बाती
जलती जोत उगलती जाती,
किरनें फैल रहीं आँगन में—
लग न जाये आग बदन में।

खिरकी के परदे पर जलती
पुरवैया की पायल बजती,
फूल कहीं फूला रन-बन में—
गन्ध न बँध पाती बन्धन में।

द्वार दिखे कँपती सी छाया,
लगता कोई जब तब आया,
व्यर्थ प्रतीक्षा के हर छन में
युग न समा जाये जीवन में।

बिना पुकारे शून्य सदन में
गूँजे नाम तुम्हारा मन में।

● महायज्ञ : प्रणय का आदि गीत

राजकमल चौधरी

बाहों में, जूड़े में रचे हुए निशिगन्ध पुष्प, नव वल्कल
सिन्धु में प्रस्फुटित हुआ नवयौवन शतदल
परीक्षिता, अभिषिक्ता, अक्षता, कामतन्वी
रक्ताक्त कृपाणधारी पुरुष—मैं ! और प्रणयधन्वी
आदिकाल
आकार लेती हुई, स्वरूप धरती हुई सृष्टि
करो हे दिग्वधुओ, आज मात्र अमृत-मधु-सोम वृष्टि
अब जल-प्लावन नहीं, रस-प्रलय हो
उन्मत्त प्रणय हो ।

× × ×

मुझे एक ऋचा दो, पूजा दो, आरम्भ करो यज्ञ
आज काम-पीड़ित हूँ, नहीं स्थितप्रज्ञ
प्रशस्त हवनकुण्ड में डालो समिधा, प्रखर करो प्राण
संकलित करो सम्पूर्ण ब्रह्म, त्याग दो अभिमान
ओ ऋचीको,
हम सब के लिए रचना करो नए-नए अक्षर-मन्त्र
रचना करो ।
ज्योति-किरणों का वरण हो, स्वागत हो
रुद्रपुत्र मरुतो, वायव्यो, पर्जन्यो, मित्रो, अश्विनो, आदित्यो,
आओ, हे सौर-देवो, अभ्यागत हो
मिलेगा भाग तुम्हें प्रसाद का, हविष का, घी का, होम का,
आओ, पियो, है नहीं अभाव मधु-सोम का
मधु से भरे जाएँ सभी कलश
नहीं हो रिक्तता, कहीं नहीं तिक्तता
शीत है, हिम है, प्रज्ज्वलित हो महाअग्नि
पिपासा से खण्डिता, सोम से उन्मत्ता सुन्दरियाँ नृत्य करें
अभी सभी अपराध क्षम्य है
अभी सभी दीप ज्योतिगर्भ हैं, मार्ग सभी गम्य हैं ।
आओ, हम त्रैलोक्य की विजय करें
सामुदायिक भण्डार अभिवृद्ध करें, अक्षय करें
मन्त्रध्वनि बन जाए सेतु
दण्डस्खलित नहीं हो कभी अदिति-पुत्रों का केतु

आओ हे मरुत्, वरुण, अश्विन, अग्नि,
आओ हे विष्णु,
आक्रमण करें, हतवीर्य करें असुरों को
वृत्रासुर का बध करें
छीन लें उनके स्वर्णकोष, अस्त्र-शस्त्र
छीन लें कन्याएँ, पशु, धेनु, वस्त्र
उठाओ मधुपात्र, उठाओ परशु, उठाओ जयघोष
मेरे कर में वज्र है, मैं प्रस्तुत हूँ
....

मैं इन्द्र हूँ
कामतन्वी शचि है
श्रद्धा है, सावित्री है, ऊषा है, रुचि है
है मनोन्मत्ता दिशा-दिशा
कल महायुद्ध है; अभी है प्रणय-निशा।

● एक आत्म-स्वीकृति

राजनारायण बिसारिया

मोम के चेहरे बहुत मैंने लगाए
स्वर्ण झीने लबादों में
पाप के तन को छिपाया,
उम्र ने बेदाग़ मन को
पाठ कुछ ऐसा पढ़ाया
जिस डगर से आँख अपनी मूँद ली थी
घूम-फिर कर उस डगर पर लौट आया।
अनुभवों की पाठशाला में पढ़ा मैं
प्यार के दो बोल जो बोला उसे ही गुरु बनाया
भाग्य कुछ ऐसा रहा
बस गुनाहों को पढ़ा
अच्छे शिष्य जैसा याद रक्खा
उम्र तख्ती पर उन्हें फिर-फिर लिखा
फिर-फिर मिटाया।
प्यार के हाथों मुझे संसार ने ऊपर लिया था
निमिष में ही खूब कस कर धाड़ से पटका

कि नीचे दूर गहरे पंक में जा
कंठ तक में डूब आया।
अनगिनत दोषों-कलंकों में नहाया।
देह-मन से था कलंकित
किन्तु दुनियाँदार बन कर
पाप-कीचड़ से कमल जैसा उठा मैं
जड़ गुनाहों में रही
पर मृदुल-दल ने, सुरभि ने मुझको बड़ा पावन बनाया
भक्ति से सबने मुझे निज देवताओं पर चढ़ाया।
भृंगदल ने गीत गाए
स्नेह से कोमल करों ने
श्याम केशों में सजाया!
पाप में डूबा रहा
पुजता रहा मैं
क्योंकि तन पर सुरभि भी थी
सुनहला-सा लबादा था!
मोम चेहरे पर चढ़ा था!

पास से जो भी गया
वह जान तक मुझको न पाया
मैं कहाँ तक कहूँ
मैंने झूठ मिथ्याचार के बल पर
सगे-सम्बन्धियों को
दोस्तों को भी छकाया।
पर तुम्हारी नत निगाहों में
छिपी ऐसी तपन है,
मोम के चेहरे पिघल कर बह गए हैं—
स्वर्ण से निर्मित लबादे
कंटकित हो रह गए हैं।
जो कि चुभते हैं मुझे अब।
ढह गई हैं ठोस प्राचीरें सुरक्षा की
छद्म-गढ़ में अब नहीं मैं छिप सकूँगा।
हट गए रंगीन पर्दे. सामने तुम हो कि जैसे आइना हो!
मैं तुम्हारी सादगी में, देखता हूँ आज निज विद्रूपता को!!

अब डराने लग गई है,
मुझे अपनी कलुष परछाईं!
धर्म से मैंने न भय खाया
आत्मा की बात अब तक सुन न पाया
फुसफुसाहट और कानाफूसियाँ पथ पर न लाईं
किन्तु पश्चाताप के तट पर खड़ा मैं
आज अपने सब गुनाहों को
सहज स्वीकार करने लग गया हूँ
आज जब तुम मौन निस्वन समर्पण ले
सामने आईं।

• होटल की एक शाम

राजेन्द्र किशोर

लिप्टन चाय की ताजा और तेज गन्ध
टेसू के फूलों वाली प्यालियों से उड़ी,
तुम्हारी फिरोजी साड़ी की चमकदार लहरों को छूती हुई
तुम्हारे धानी रंग के ब्लाउज के आस-पास तिरती रही,
अपरिचय के बीच हमारी तटस्थ अन्यमनस्कता
होटल की वृत्ताकार टेबिल की परिधि के अन्तर्गत
केंद्र-विंदु की तरह स्थिर बिल की तश्तरी में पड़े
बेयरा की भूल से बने संयुक्त बिल पर
गोपन अनुभूतियों की निष्क्रिय अभिव्यक्ति बन कर उलझ गई।
चुप···चुप···चुप के अनदेखे पारस्परिक विनिमय की प्रक्रिया में
कभी अनचाहे ही मेरी कमीज के कॉलर तक मेरा एक हाथ चला गया
कभी अनचाहे ही तुमसे तुम्हारी कोई उड़ती-उलझी लट सुलझ गई।

प्रलय के बाद की पहली संध्या की सकरुण प्रतीति में
अपरिचय की ऐसी ही किसी विशिष्ट भूमिका में
सम्पृक्ति की ऐसी ही कोई विवश अनुभूति रही होगी,
दो परस्पर अपरिचित देहों के बीच
मौन की व्याप्ति होकर जो किरण अभी बह रही है, बही होगी।
सोचता हूँ
उस दिन अवश्य मैंने तुमसे कोई बात कही होगी।

अभी क्षण भर में
विवशता की एक अन्य स्थिति में
बिल अदा कर हम होटल से निकल कर सड़क पर आ जाएँगे।
झिझकती हुई नजर एक दूसरे पर डाल कर
पल भर को
सहमते हुए ही हम एक दूसरे पर छा जाएँगे।
हमारी आँखें आँखों में बस जाएँगी,
हमारी वासनाएँ वासनाओं को डँस जाएँगी।
पल भर रुक कर
हम विष की लहर से आन्दोलित
एक ही सड़क से दो विरोधी दिशाओं में चले जाएँगे।
भीड़ के अपरिचित लोगों के बीच
दो भिन्न दिशाओं में मेरा और तुम्हारा अस्तित्व लुप्त हो जाएगा।
सड़क के किनारे-किनारे फुटपाथों पर चलते हुए
बिजली की रोशनी में
इस क्षणिक आकर्षण से टूटने के लिए
हम दुकानों के शीर्ष पर टँगे साइनबोर्डों को पढ़ेंगे,
और भूलने-भुलाने की प्रक्रिया में
उनके प्रत्येक अक्षर से मनचाहे नाम गढ़ेंगे।
मन की इस स्थिति में
मनाकार होकर दुकानों के साइन-बोर्डों पर भूलने में
और मनचाहे गढ़े नामों के ज़रिए
किसी अपरिचित मनचीते को भूलने में मजा आएगा।

थोड़ी देर बाद ऐसे ही चलते-चलते
किराये का वह घर आएगा, जिसमें हम रहते हैं।
बाहर अँधेरा होगा, भीतर शोरे-गुल।
क्षण भर पूर्व के अपने व्यक्तित्वों से भिन्न व्यक्तित्व धारण कर
हम अन्दर जाएँगे—लोगों से बातें करेंगे,
पढ़ेंगे-लिखेंगे, खाएँगे-पिएँगे, सो जाएँगे।
सपने में हम किसी वेणुवन में मिलना चाहेंगे,
गुलाब और चम्पा के फूल बन कर खिलना चाहेंगे।
दूसरे सपने आएँगे।
सुबह के ताजा अखबार के साथ

हम एक नये धरातल पर उतर जाएँगे।
दिन को दफ्तर जाएँगे।
शाम को एक दूसरे होटल में किन्हीं दूसरी आँखों में सँवर जाएँगे।

इसीलिए, सोचता हूँ,
होटल की इस वृत्ताकार टेबिल की परिधि के अन्तर्गत
केंद्र-बिंदु की तरह स्थिर बिल की तश्तरी में
गोपन अनुभूतियों की उलझी हुई निष्क्रिय अभिव्यक्ति को
बेयरा को पुकार कर खंडित कर दूँ।
तुम उर्वशी हो, तो हो,
मैं पुरुरवा हूँ, तो हूँ।
मैं बिल का सिर्फ अपना हिस्सा अदा करूँगा
तुम मुझे भूल जाना,
मैं तुम्हें भूल जाऊँगा।

● अवकाश

राजेन्द्रप्रसाद सिंह

अवकाश ?
दूर होते जा रहे हम सब परस्पर,
किन्तु रहते पास !
दौड़ते ही जा रहे सारी दिशाओं में
समय के अश्व पर अन्धे,—
यही अभ्यास !
मैं भी और तुम भी और···वे भी,
धन्य ! —क्या विश्वास ?
क्यों हो, किस तरह हो कब अवकाश ?
हर खुशामद में बड़ा 'पहुँचा हुआ'-सा आदमी
हर ओर सत्ता के लिए बेताब ;
लगता—शिथिल, अन्धी गान्धारी को
भुजा भर बाँध लेने को शिखंडी हो रहे बेताब !
फिर भी
चिमनियों से यह धुआँ,
ये वायुयानी बोल,

पावर-हाउस के बेचैन फव्वारे
उसाँसें धुन रहे ;
ये अजगरी-सी योजनाएँ,
और मेढक-सा नया ईमान !
खोद-खोद पहाड़, चूहे की मिली पहचान !
क्या अवकाश ?
फिल्में ढाई घंटों की, कैफ़े तीन घंटों का,
क्लब में बॉल-फैन्सी-डान्स हो तो
पाँच घंटों का,
मगर सच्चे दिलों की आरज़ू पर
एक क्षण को भी नहीं विश्वास !
क्या अवकाश ?

● गीत

रामअधार
सिंह अधीर

मले तो मले साँझ मुँह में उदासी
मगर ये उधर बाँसुरी से मिले हैं।

क्षितिज से उठी एक मीनार ऊँची
नहीं गम मुझे जो धुएँ की बनी है,
सिरा टूट कर गर्द सा छा रहा है
पवन तो इसी बात का ही धनी है,
सराहूँगा मैं लक्ष्य की कामना को
जिसे देख कर हौसला बढ़ गया है,
घिरें तो घिरें ये घटायें गगन में
मगर दिल के कोने दिये से जले हैं।

अजानी डगर है सफर है न छोटा
थकन भूलकर ये कदम चल रहे हैं,
सृजन से चिता है, चिता से सृजन है
इसी सत्य पर हिम शिखर गल रहे हैं,
अभी धारणा ने बसेरा लिया है
नये शौक मन में जनमने लगे हैं,

ढलें तो ढलें ओस बनकर सितारे
मगर स्वप्न मेरे करों में खिले हैं।

कपोती के पंखों में आई है उड़के
बहुत दूर से आज शुभ कामनाएँ,
नये साल का पंथ गीतों भरा हो
न भूलें कभी दान की याचनाएँ,
अभावों की राते हैं सच कह रहा हूँ
अँधेरा ललाई लिये आ रहा हूँ
खले तो खले रूप की कोर हग में
मगर प्राण में साँस की हलचलें हैं।

● आभास

रामदरस मिश्र

एक कपोत की छाया
जँगले से होकर
कमरे में तैर गयी
लगा—तुम आ गये

हवा का एक भीगा झोंका आकर
दूर्वा-दल-सा मेरी छाती पर बिछ गया
लगा—तुम आ गये

बादल का एक मासूम बच्चा
खेलता खेलता आकर
मेरे सामने फुहार ढार गया
लगा—तुम आ गये

यह दोपहरी चीरती हुई
उस गुल मुहर से
एक नन्हीं चिड़िया गा उठी
लगा—तुम आ गये

● नेह की ओ बाँह !

रामबहादुर मुक्त

सहे गर्वित वक्ष कितने ही गहन आघात
भटकनों से भरी राहों लिए सौ-सौ मोड़
मूल से भी अधिक मैंने बदी अब तक होड़
धूप, बारिश, शीत माने दिन नहीं ओ' रात,

रच रहा था चाहना की अनबनी मीनार
शीश महलों में रमाने के लिए ये प्रान
सोचता था गुँजाऊँगा नखत-पंखी गान
छिन्न है अब छिन्न बेआधार का सम्भार;

झूठ है यह झूठ है परछाइयों का देश
खोखले हैं खोखले ये मुखौटों के वेष
खस गई है खस गई है रेत की अब भीत
लुट गये हैं लुट गये अब छलावों के गीत—
चाहता हूँ चाहता मैं सान्त्वना की छाँह
घेर ले अब घेर मुझको नेह की ओ बाँह !

● शंख : युग ध्वनि

राममनोहर त्रिपाठी

सागर के तट पर अनगिन शंख पड़े हैं
जैसे पंछी मर गये उखाड़े पंख पड़े हैं
ये शंख युगों से पड़े हुए हैं
पड़े रहेंगे
कुछ न कहेंगे
जो साधु हिमालय पर बैठा है
ओ' तरस रहा है एक शंख के लिए
कभी उतरेगा
देखेगा वह अनबींधे शंख पड़े हैं
वह एक शंख को फूँक
सभी को देगा ध्वनियाँ
वह शंख सबों के बीच धन्य होगा
शायद केशव का पाञ्चजन्य होगा

● पाँच मुक्तक

रामरिख 'मनहर'

कुछ दिन चटकी कुन्दकली में कुछ दिन खिले कनेर में
पूरी उमर कटी भौंरे की तृषा-तृप्ति के फेर में
अन्त समय बोला आँधी से 'मौत मुझे ऐसी देना—
साँस-साँस टूटे दब-दब कर पंखुरियों के ढेर में।'

कोयल बैठी डाल ननद-सी कोरी गप्पें हाँकती
अरे! हुआ जो कुछ उपवन में रही झरोखे झाँकती
दिया बुझाकर साँझ ले गई चुपके से सँग चाँद को—
हवा, गाँव की बुढ़िया जैसी रही रात भर खाँसती

कभी ओस-भर कभी कोस-भर
यों ही तिल-सी ताड़-सी,
कभी कथा अक्षर-अनन्त
तो कभी अधूरी बात-सी,
शैशव, यौवन, वृद्धावस्था की
संख्या अनुपात में—
गिनने को आसान बहुत है
उम्र ढाक के पात-सी

सूरज ज्वाला हाँक लगाकर चला गया
वन-वृक्षों ने अपनी छाँव समेटी है,
सिर्फ़ समय की धूल-भरी पगडण्डी पर
थकी शाम टूटे दरख्त-सी लेटी है।

तब धरती ने आँखें खोली
तब माटी की तड़फ गई
बीज स्वयम् निस्स्वत्व हो गया
जब अंकुर के सर्जन में,
रात प्रसव-पीड़ा-सी तिल-तिल
टूट-बिखर कर चल गई
और दुधमुँही बच्ची जैसी
किरन हँस पड़ी आँगन में।

● श्वेत, उजले, धुले बादल

रामविलास
शर्मा

तुरत बुझे
दीपक से उठते
धुएँ सरीखी
आड़ी-टेढ़ी
पगडण्डी पर
पाण्डुर नभ में
मटमैले बादल का गट्ठर
लिए पीठ पर
बढ़ता जाता
क्षितिज-कुण्ड को
सावन का दल

घने वनों के पार
उठ रहा
सी हो ऽ सी हो ऽ का
मद्धम स्वर
अनगिन हाथ
पछीट रहे हैं
चिकनी चट्टानों के ऊपर
एक साथ मिल
गीले कपड़े
सहज, मटीला होता जाता
झील, ताल, नद, नालों का जल

झूल रही
नाजुक टहनी पर
गान्धी-टोपी की कतार-सी
उजली, धुली,
पाँत बगुलों की
सूख रहे हैं स्कर्ट पजामे
कुर्ते, धोती,
शर्ट, फ्रॉक, नेकर, शलवारें

बैजनियाँ ब्लाउज
औ' झीनी बन्दामी चुन्नी-से बादल

शीश झुकाए
रुँधे हाथ से
धीमे-धीमे लोहा करती
नन्हें पौधों के मुँगलों पर
पछुवा धोबिन
नये नातरे की दुलहिन-सी
सरकाए
आँखों तक आँचल ।

● आज का सत्य

रामावतार चेतन

पाउडर आँखों में लगाओ
काजल ओठों में लगाओ
लिपिस्टिक नाक पर मलो
किन्तु
हरगिज़ स्वीकार न करो
कि पाउडर गलत स्थान पर लगा है
काजल गलत स्थान पर लगा है
लिपिस्टिक गलत स्थान पर लगी है,
बल्कि
जोर देकर
चिल्ला कर
गला फाड़ कर
प्लीड करो—
आँखें गलत स्थान पर लगी हैं
ओठ गलत स्थान पर लगे हैं,
नाक गलत स्थान पर लगी है !

● बुझते दीपक का आत्मनिवेदन

रामावतार त्यागी

अपनी उम्र कर चुका पूरी
छूट गये सब काम अधूरे,
मेरे अशुभ अनमने सिरजन
मुझको कभी क्षमा मत करना।

जीवन का अमृत निचोड़ कर, प्यासे गम को पिला दिया है
मैंने अपनी माँ के पुण्यों को, मिट्टी में मिला दिया है;
मेरे रचनाकार तुम्हारे
फूल अगर रह जाँय अनचुने;
मेरे ओ पददलित आचमन
मुझको कभी क्षमा मत करना।

ले डूबेगा बीच भँवर में, इसका मुझको नहीं ज्ञान था
अपने मन पर मुझको अपने भाई से ज्यादा गुमान था;
अपने ही विश्वासघात से
मेरे सब संकल्प पराजित;
ओ मेरे उदास, घर-आँगन
मुझको कभी क्षमा मत करना।

ममता दृष्टि माँगती, यौवन माँग रहा शृंगार सलोना
बचपन मार मार किलकारी, माँग रहा है सुघर खिलौना
मैं कर्त्तव्यहीन, मैं कायर
जो बिक गया मृत्यु के हाथों;
मुझ पनघट के प्यासे बचपन!—
मुझको कभी क्षमा मत करना।

दीवारों को कंठ मिला तब, जब मुझमें मूर्च्छना जगी है,
बुझते हुए दिए में, मुझमें जैसे कोई होड़ लगी है;
मेरे सिरहाने से मेरा
हाथ निकालो सीधा कर दो;
ओ! मेरे अनाथ से दर्पण!
मुझको कभी क्षमा मत करना।

● विष्कंभक

लक्ष्मीकान्त वर्मा

रस तो ले गये वे गंधवाही योगी सब
जो आये थे केवल कलाकार से, नट से, योगी से
अभी अभी
ओ विष्कंभक !

वे हैं कवि,
भावना लोक में रहते हैं
जितना है कोमल सब उनका है
जितना है मधुर सब उनका है
जितना है तरल, स्नेहिल, सलिलमय, सब उनका है
जितना है पावन, ऋचा-सा मंत्रमय, सब उनका है
वे चाहते हैं देखना महज़ वह जो सुन्दर हो
वे चाहते हैं जीना वह जो स्पर्शों में रोमांचित कर दे तन, मन
वे हैं कवि उनके जो गन्ध, पुण्य, रजताभ नक्षत्रों में जीते हैं
—एक लाड़ला गुलाब वे पाल लेते हैं...
गमलों में दूसरे के रक्त की खाद दे
असंख्य पत्तियों, कलियों को चुटकियों में मसल
उगा लेते हैं एक गुलाब
जिसमें सर्प से बैठे—गन्ध पी
केवल विष की तिक्तता देते हैं
हमें, तुम्हें, इन्हें, उन्हें
ओ विष्कम्भक !
वे हैं कवि......
केवल कवि !
कवि मैं नहीं
क्योंकि मैं कोमलता से वंचित कठोरता में जीता हूँ
क्योंकि मैं मधुरता से दूर विष की तिक्तता पीता हूँ
जितना था तरल : उसे मैंने आँसुओं में गवाँया नहीं :
बोया, उगाया, फैलाया है
जितना था स्नेहिल उसे विपर्ययों में बिखेरा, लुटाया, जिलाया और जिया है
जितना था सलिलमय उसे गमले को नहीं, सबको दिया है

—मेरी दृष्टि : भिखारी की झोली में एक सूखी रोटी पर उग
आये सपने-सी
मेरी अनुभूति : सैनिक की अंधी आँखों पर गर्म रोटी की पट्टी-सी
मेरी श्रद्धा : श्रमयुक्त पसीने की बूँदों में गंगाजल-सी
मैं जो लिखता हूँ वह गुलाब नहीं—वह है जीना
जीना
और जीना—असुन्दर की छाया में
पसीने की बूँद में
रोटी की विवशता
और कीचड़ की होली में
क्योंकि—जी रहा हूँ मैं : जिन्दा हूँ
अयाचित लीक से पृथक सही
किन्तु कहीं तपता, सीझता, उगता !

● विषकन्या के नाम

विजयदेव
नारायण
साही

घिरा चारों ओर चारों ओर चारों ओर
सुख का झिलमिलाता जाल...

साथ हैं लाखों करोड़ों चाँद तारे दीप्त, वैभववान,
शायद व्योम है यह :
मैं खड़ा हूँ व्योमगंगा की अलक्षित बीचियों में

बहुत हल्का,
रिक्त है तन,
स्पर्श सुख से झनझनाती है त्वचा,
दोनों भुजाएँ, विवश, सीमाहीन नभ को भेंट लेने को उठाये ।

बहुत नीचे,
किसी ओझल अतल घाटी से उमड़ता
मृदुल संख्यातीत लच्छों-भरा बादल
मुग्ध पैरों से लिपटता हुआ उठता आ रहा है
और ऊपर कहाँ से
उत्फुल्ल रोमों पर बरसती

पिसे तारों की अतीन्द्रिय जगमगाती धूल ।
आह ! मैं हूँ झँझरियों से भरा ढाँचा मात्र
और यह अनुरक्त बादल
झनझनाती हुई आदिम धूल
मेरे तन्तुओं के बीच से होकर गुज़रती जा रही है ।
कहाँ हूँ मैं आह !
कौन सा है यह तरंगित विपुल मायालोक ?
चारों ओर मेरे, घिरा चारों ओर, चारों ओर, चारों ओर......

२

यह अलौकिक दंश
यह सिमटती चेतना में भिन रहा तेज़ाब सा उन्माद
यह करोड़ों वायवी अनुभूतियों का निचुड़ता सागर,
प्रहर्षित, तिलमिलाते, तने प्राणों की—
अनुक्षण क्षरित होती तृप्तियों का ज्वार !

३

ओ हुताशन लो
संचित, दहकते व्यक्तित्व के
इन चरम जीवित क्षणों का व्याकुल अपव्यय, लो—
क्योंकि जीवन नहीं कुछ भी और !

अस्थियों को फोड़ आती लहर-आहुति
भर रही जो चेतना के, सिद्धि के, हर रन्ध्र
उस प्रतिपल समर्पित पूर्णता के परे
जीवन नहीं कुछ भी ओ हुताशन, और !

इधर आओ
मैं तुम्हारी पुतलियों को देर तक देखूँ,
यही है वह चिर पराया व्योम, जिसमें खिंचा
छूटे बान सा हर दर्द उड़ता जा रहा है
प्रज्वलित, अभिव्यक्त, मरणासन्न ।
यही है इस शृङ्खलित-विस्फोट का गन्तव्य
जो निर्जीव पपड़ी पड़े पोरों को जिलाता
दे रहा है प्रथम-अन्तिम दीप्ति;

इन दारुण, सघन अनुभूतियों के परे
जीवन नहीं कुछ भी, ओ हुताशन, और !

कल्पतरु है प्यार : बरसों की भिगोयी
दबी करुणा से भरा; गुनता स्वयं को।
तभी सब कुछ माँगता सा
एक जीवित स्पर्श छू देता कहीं बेदर्द
दूर कच्ची जड़ों के सुकुमार टोकों तक
अहेरी दौड़ जाती एक सिहरन सर्द।
तिलमिला उठता वियोगी
नसों में खोया हुआ बेताब सागर उमड़ आता
भँवर खाता चीरता हर गाँठ,
खुल कर तैर जाते अवयवों के पाश,
डालें काँपती बेहोश,
हर पत्ती तड़पती...
और फिर वह बँधा वैभव
किसी बेपरवाह मेले में प्रदर्शित फुलझड़ी सा
फूल आता, रीझता, पुरता, बिखर जाता—
हजारों बार !
कल्पतरु है प्यार !

मुझे देखो :
यह कि पुंजीभूत मैं अब भी बचा हूँ आज।
मुझे देखो :
यह कि इस दिशिहीनता को भेंटता सा
जगमगाता हुआ मैं अस्तित्व हूँ निर्व्याज।

सिन्धु से आहूत मैंने दिया पूरा सिन्धु
अग्नि से अभिभूत मैंने दी बराबर अग्नि
शक्ति से आविष्ट मैंने दी अनवरत शक्ति
किन्तु फिर भी हर थकन पर
और भी वत्सल स्वरों में
क्या नहीं मैं याचता ही रहा हूँ अनिमेष :
और कितनी प्यास, कितनी प्यास है प्यासे हुताशन, शेष ?

जगमगाता हुआ फिर भी बचूँगा मैं अस्ति का सिरमौर,
क्योंकि तिल तिल सौंपती सम्पन्नता के परे
जीवन नहीं कुछ भी, ओ हुताशन, और !

४

इसलिए घेरे रहो तुम मुझे ओ मायाविनी
और कस लो गुंजलक में
     और···
     हाँ कुछ और···
विवश झूमूँगा तुम्हारी लहर पर हतचेत
मेरे देवपावन रक्त की हर बूँद
चाहे स्वप्न बनकर
फूटती चिनगारियों सी व्योम में उड़ जाय;
मेरे दिव्य अधरों पर स्फुरित हैं जो अजन्मे शब्द
चाहे चुम्बनों की तरह
गहरे, और गहरे डूबकर घुल जाँय !

उमड़ता ही रहेगा उत्तप्त ताज़ा लहू
धरती से अजस्र अशेष आती ही रहेगी धार
यातना के बीच मेरा गर्व देता है चुनौती—
कौन छीजेगा प्रथम :
रिसती समय की रेत या अनुभूति का यह क्षुब्ध पारावार ?

इसलिए ओ दंशिनी
मैं नहीं हूँगा मौन या श्रीहीन
लो, सिमटती चेतना में
हुलस आई हैं वही पावन, समर्पित वह्नियाँ;
मन्द्र, भीगे स्वरों में
फिर ध्वनित है हर पोर :
घिरा चारों ओर, चारों ओर, चारों ओर, चारों ओर······

● पश्चिम में

विपिनकुमार अग्रवाल

कल यहाँ विस्फोट होगा
प्रकृति के अन्तिम रहस्य का
कल परिचय देगा मानव फिर
अपने खोखले कुँवारेपन और बर्बरता का !
समझ लो यह शहर की अंतिम साँझ है
फिर भी न जाने क्यों सब चुप और शांत है
ठोढ़ी छिपाए, कंधे झुकाए, भीड़ की हर इकाई
पास आते कलुषित भविष्य की पहिचान है !
एक मोटा आदमी अभी से
रेशमी कपड़े पहन अपने को
तिजोरी में बन्द कर बैठ गया है
नोटों की गड्डियाँ शायद बालू का काम दें !
बैंक का क्लर्क उदास फटी-फटी आँखों से
अपने बीबी-बच्चों, मेज़-कुर्सियों, और
कोने में रक्खे नये टेबिल-लैम्प को
देखने में व्यस्त है
सबको ढके एक किराए का कमरा है
जब अपना मकान बनवाने की कल्पना की थी
सोचा था—उसमें तहखाना भी होगा !
मिल की गहराइयों में अब भी
चीड़ की बड़ी-बड़ी पेटियाँ इधर से उधर
हटायी जा रही हैं और ढोने वाला मजदूर
अपने काम में रोज से अधिक संलग्न है !
एक इंसान ने यह सब देखा और आँखें मूँद लीं,
शायद वह जानता था कि आज और कल में
एक रात और एक स्थिति का ही अन्तर है
उसने महज़ सोचा, इतिहास के अन्तिम
पृष्ठ पर लिखा भी नहीं—
इतनी बड़ी संक्रामक जड़ता की उपस्थिति में ही
ऐसी पाशविक और बेशर्म कृति की सम्भावना
पल सकती है !

● पावस, दूरियाँ और अमृता

वीरेन्द्रकुमार जैन

वर्षा के इस दुर्दिन में, जाने क्यों,
सब-कुछ दूर-दूर होता-सा लगता है !
आस पास के ये झाड़-गाछ,
बँगले, छतें, दरवाज़े, खिड़कियाँ,
आकाश-वातास, नर नारी,
मुखड़े, भाव-भंगिमाएँ—
जो खुली धूप के दिन
इतने सुपरिचित अपने-से लगते हैं :
वे आज पावस के इस दुर्दिन में,
दूर से आती वृष्टि धाराओं में धुँधला कर
जाने किस शून्य में खोते-से लगते हैं !
वर्षा के इस दुर्दिन में, जाने क्यों,
यहाँ का सब-कुछ
बहुत पराया-सा, बेगाना-सा लगता है ।

यह ऊष्मा भरी सुखासीन शैया,
जो कभी तन-मन का आराम विराम थी;
यह रेशमी लिहाफ़, यह पशमीने की शाल,
जिसे ओढ़ कर सोने में,
अपने अन्तरतम आत्म-कक्ष में
विश्राम पाने का होता था भान :
ये सब आज कैसे ठंडे, अपरिचित,
राह की अँधियारी टनलों-से लगते हैं :
जिनसे निकल कर कहीं और मुक्ति पाना है,
जिनसे निकल कर—
किसी नये ही सूर्य के देश में जाना है !
हाय रे, इन मधुर रोशनी से गर्म, बन्द कमरों में,
इन इत्रों में तैरती सुगन्धी शैयाओं में,
इन मांसल मादन बाहों में,
जैसे आज नहीं अपना आशियाना है !

हाय रे, आज इस वर्षा के दुर्दिन में,
यहाँ का कुछ भी अपना नहीं लगता है ।

ये अपने ही तन, मन, प्राण, आत्मा,
यह अपने ही पहलू में धड़कता हृदय,
ये अपनी ही गर्म-गर्म साँसें भी
आज अपनी नहीं लगती हैं···!
वह सब-कुछ, जिसके कारण मैं हूँ, मेरापन है,
वह सब-कुछ पावस की इस दुर्दाम नदिया के तीर,
इन टूटती उल्काओं की रोशनी में,
साँप की तरह अपनी ममता की केंचुली छोड़ता सा लगता है।
"···कहीं और···कहीं और···कहीं और···"
की सर्वस्व-हारिणी पुकार
आत्मा के अतल में से उठ कर,
इन प्रलय की बहियाओं को चूमती हुई,
इन दिशांतर-वेधिनी झंझाओं पर उड़ती हुई,
देश-काल के सीमान्तों को तोड़ती हुई—
जाने किन अगम शून्यों में खोज रही है अपनापन!
हाय रे वह कौन सत्यानाशिनी, चरम-परम प्रिया है मेरी,
कि जिसके विरह में,
यह निखिल चराचर आज पराया-सा लगता है :
कि जिसका आलिंगन पाने को
अपनी सत्ता ही अपने हाथ से छूटती-सी लगती है!

···कि दूर कहीं वर्षा में धुँधलाती एक खिड़की पर,
पावस के सागर-सा उफनाता उजला कोमल चेहरा,
जड़ा-सा, ढुलका-सा रह गया है :
लगा कि अचल प्रतीक्षा की
उस मरण-रोधक कगार में,
काल भी जैसे इस घड़ी थम गया है।
इन प्रलय की बहियाओं को,
इन नाश की झंझाओं को,
मेरे प्राण की इस सत्यानाशिनी पुकार को,
जैसे वहाँ अचानक किनारा मिल गया है···!

···अरे कौन हो तुम जो इस दुर्दिन अबेला में भी,
इस चिर बिछोह बेला में भी,

अनन्त आक्रन्दभरी दूरियों को बींध कर,
आकाश-पृथ्वी के किनारे जोड़ती-सी,
अगम-निगम के छोरों को अपनी गोदी में अँकोरती-सी
मेरे बहुत पास आती-सी लगती हो,
मुझमें समाती-सी लगती हो,
मुझे अपने में लौटाती सी लगती हो;
इस पृथ्वी की सदा की निराश, अँधियारी,
भंगुर, चिर विरहिन माटी में
अपनी अमृता छाती का
मधुर मिलन-दीपक जलाती सी लगती हो···!

● बरसो रे

वीरेन्द्र मिश्र

बरसो रे,
बरसो रे,
बरसो रे,
अम्बर के शिखरों से उतरो रे
जीवन देने राहों में

ऊँची-नीची जीवन-घाटी से
प्रतिध्वनियाँ आती हैं माटी से
गागर से सागर ढुलकाओ, घन !
अब तो हँसते-गाते आओ, घन !
इन मिलनातुर बाहों में

पुरवैया नैया के पालों में
नभ के नारंगी रूमालों में
सूरज का रथ धीमा-धीमा है
सपनों की क्या कोई सीमा है
अमराई की छाँहों में

आओ तुम कजरी को स्वर देने
वाणी को पानी के वर देने
कल तक तुम घिर-घिर कर छाए थे
कल तक तो तुम केवल आए थे
बरखा की अफवाहों में

● उस पार

शम्भुनाथ सिंह

उस पार पहाड़ों के मेरा मन रहता है!

दुर्गम पथरीली ढालों पर घूमा करता,
आवारे सा हिम शिखरों को चूमा करता,
ग्लेशियरों में हिमखण्डों के सँग बहता है!

घाटियाँ बादलों से जब सहसा भर जातीं,
बिजली की कौंधों से किन्नरियाँ डर जातीं,
मेरा मन उनके कानों में कुछ कहता है!

जंगली हवा की सीटी पागल कर देती,
मुर्दा चट्टानों में अनुगूँजें भर देती,
तब मन अनदेखी छुवन साँप की सहता है!

जब दिन का गरुड़ पहाड़ों पर मँडराता है,
काफलकक्कू सन्नाटे को दुहराता है,
कच्चे पहाड़ सा मन दुहरा हो ढहता है,
उस पार पहाड़ों के मेरा मन रहता है!

● आओ !

शमशेर बहादुर सिंह

(१)

क्यों यह धुक-धुकी, डर,—
दर्द की गर्दिश यकायक साँस के तूफ़ान में गोया।
छिपी हुई हाय-हाय में
सकून
की तलाश।
बर्फ़ के गालों में है खोया हुआ
या ठंडे पसीने में खामोश है
शबाब।
तैरती आती है बहार
पाल गिराये हुए
भीने गुलाब—पीले गुलाब
के।
तैरती आती है बहार
ख़्वाब के दरिया में
उफ़क़ से
जहाँ मौत के रंगीन पहाड़
हैं।
ज़ाफ़रान
जो हवा में है मिला हुआ
साँस में भी है।
मुँद गई पलकों में कोई सुबह
जिसे खून के आसार कहेंगे!
खो दिया है मैंने तुम्हें।

(२)

कौन उधर है ये जिधर घाट की दीवार...है?
वह जल में समाती हुई चली गई है
लहरों की बूँदों में
करोड़ों किरनों
की जिन्दगी
का नाटक सा : वह
मैं तो नहीं हूँ?

फिर क्यों मुझे (अंगों में सिमिट कर अपने)
तुम भूल जाती हो
पल में :
तुम कि हमेशा होगी
मेरे साथ,
तुम भूल न जाओ मुझे इस तरह !

× × ×

इक गीत मुझे याद है ।
हर रोम के नन्हें से कली-मुख पर कल
सिहरन की कहानी मैं था ।
हर ज़र्रे में चुम्बन के चमक की पहचान ।
पी जाता हूँ आँसू की कनी सा वह पल ।
ओ मेरी बहार !
तू मुझको समझती है बहुत-बहुत—तू अब
यूँ ही मुझे बिसरा देती है ।...
—खुश हूँ कि अकेला हूँ
कोई पास नहीं है—
बजुज़ एक सुराही के,
बजुज़ एक चटाई के,
बजुज़ एक ज़रा-से आकाश के,
जो मेरा पड़ोसी है मेरे छत पर
(बजुज़ उसके, जो तुम होती—मगर हो फिर
भी यहीं कहीं, अजब तौर से !)
तुम आओ गर आना है...
मेरे दीदो की वीरानी बसाओ ;
शे'र में ही तुमको समाना है अगर
ज़िन्दगी में आओ, मुजस्सिम...
बहरतौर चली आओ ।
यहाँ और नहीं कोई, कहीं भी,
तुम्हीं होगी, अगर आओ ;
तुम्हीं होगी अगर आओ, बहरतौर चली आओ अगर ।
(मैं तो हूँ साये में बँधा-सा
दामन में तुम्हारे ही कहीं एक गिरह-सा
साथ तुम्हारे ।)

(३)

तुम आओ, तो खुद घर मेरा आ जायगा
इस कोनो-मकाँ[1] में,
तुम जिसकी हया हो,
लय हो।
उस खामोशी की हया-भरी
इन सिम्तों की पहनाइयाँ[2] मुझको
पहनाओ!
तुम मुझको
इस अन्दाज़ से अपनाओ
जिसे दर्द की बेगाना रवी[3] कहें,
बादल की हँसी कहें,
जिसे कोयल की
तूफान-भरी सदियों की
चीखें,
कि जिसे 'हम-तुम' कहें।
(वह गीत तुम्हें भी तो
याद होगा?)

● हर पंक्ति में

शान्ति
मेहरोत्रा

हर पंक्ति में
रसोई की खिड़की से
चोर-सा भागता
धूर्त धुआँ है;
घुटन है।

हर पंक्ति में
गुँथा हुआ आटा
जली हुई दाल
घिसे हुए कपड़े
टूटे बटन हैं।

---

१. देश-काल। २. विस्तार। ३. बेरुखी।

फिर भी इन्हें
कसकर पकड़े हूँ
थामे हूँ, जकड़े हूँ
क्योंकि इनसे मुक्ति
मेरा मरण है ।

● लायका की प्रतिध्वनि

शेखर

मैं सुनता हूँ कोई रह-रह कर रोता है,
पर यह जग तो जागते हुए भी सोता है,
जब वह बुझते स्वर लौट-लौट कर आते हैं
क्या कहूँ कि तब मेरा मन कैसा होता है?

चन्द्रमा-सूर्य-नक्षत्रों में भरमाती है,
जैसे कोई आवाज़ क्षितिज से उठ-उठ कर
फिर जाने किस पीड़ा से नभ को चीर-चीर
धरती की बोझिल छाती से टकराती है।

जैसे कोई सेवक स्वामी की सेवा में
अपने प्राणों की आहुति देकर कहता हो,
यह अंधकार कितना घातक है भीषण है;
फिर भी वह स्वामी अंधकार में रहता हो।

शायद यह आवाज़ किसी ऐसे की है
जो कहने को तो पशु है, लेकिन मानव है;
हाँ, उस मानव से तो कुछ बढ़ कर ही होगा
जो हृदयहीन-भौतिकता का जीवित शव है।

मेरी आँखें उठ-उठ कर नभ में टिक जातीं,
लेकिन कुछ भी तो नहीं दिखाई देता है;
दिन में सूरज का तेज, रात में नखत-चाँद।
जब तक यह धुन्ध-कुहिर सब-कुछ ढँक लेता है।

उस दिन देखी थी एक खबर अखबारों में,
लायका भी उस मानवी चाँद के साथ गया,

वह कुत्ता है पर मानवता की उन्नति का-
जब लौटेगा तो लायेगा आधार नया।

सम्भव है यह आवाज़ उसी हतभागे की,
जो बरबस ही धरती के चक्कर काट रहा,
मानव की भौतिक प्रगति-स्वप्न के मान-चित्र
कैसे-कैसे आतंक और भ्रम बाँट रहा।

जी करता है मैं उसके पास पहुँच जाऊँ,
उसकी झुलसी काया को कर से सहलाऊँ,
उस घायल को अपनी छाती से चिपका कर
सारी दुनिया की आँखों में जल भर आऊँ।

देखो, वह कैसे सिसक-सिसक कर कहता है:
"—तुमने धरती से मेरा नाता तोड़ दिया,
अपनी लिप्सा के वश में आकर ही तुमने
इतनी एकाकी ऊँचाई पर छोड़ दिया।

है याद आ रहा मुझको मिट्टी का दुलार,
जिसको छूकर मेरा सपना खिल जाता था,
अब तक छलिया पुचकार तुम्हारी याद मुझे
जिसको सुनकर मुझको सब कुछ मिल जाता था।

उस आत्म समर्पण का जो बदला मिला मुझे,
उसको न किसी का अत्याचार कहे कोई;
बस, एक लालसा है जो मन को काट रही,
जो दर्द सहा मैंने, जग में न सहे कोई।

तुमने जो मुझसे माँगा है, मैं देता हूँ,
धरती का अणु अणु लगता मुझको तारा है,
अम्बर से अधिक विशाल तुम्हारी प्रतिभा है,
सागर से ज्यादा गहरा हृदय तुम्हारा है।

तुम जिस लालच से ऊपर आँखें किये खड़े
जो ग्रह-नक्षत्रों का विज्ञान सहेजा है;
वह वैभव ऊपर नहीं, तुम्हारे मन में है,
जिसके प्रयोग में तुमने मुझको भेजा है।

इस एक चाँद पर जाने को तुम हो अधीर,
तुम चाहो तो सौ चाँद स्वयं गढ़ सकते हो,
नक्षत्रों की बातें करना ओछापन है,
जलते सूरज की छत पर चढ़ सकते हो।

यह चाँद दूर से पृथ्वी की ही शोभा है,
वैसे टुकड़ा भी उससे ज्यादा सुन्दर है,
मैंने मंगल को भी फिर-फिर कर देखा है,
उससे ज्यादा सुन्दर 'गोबी' का बंजर है।

ये सारे ग्रह नक्षत्र सकल नीहार-पुंज,
सब एक चित्र के ही रँग हैं, रेखायें हैं
यह धरती ही तो उसकी एक नायिका है,
यह जैसे सागर हो, ये सब सरितायें हैं।

तुम जैसे-जैसे मृग-तृष्णा में भटक रहे,
वैसे-वैसे मेरा भय बढ़ता जाता है,
इस तरह करो अपमान न अपनी दुनिया का
देखो, बसुधा का क्रोध उमड़ता आता है।

यूराल, हिमालय, राकी जो हैं शान्त खड़े,
हो सकता है वे लावा बन कर छा जायें,
जल उठे धरा, जल उठे गगन, सागर उबले,
चेतनता को ऐटमी हवायें खा जायें।

विस्मय होता है तुमने खुद मानव होकर,
मानवता के टुकड़े-टुकड़े कर डाले हैं,
हर ओर एक मातम सा छाया है जग में,
हर ओर कि ज्यों विध्वंस धधकने वाले हैं।

यह शीत-युद्ध का नाटक जो तुम खेल रहे,
यह 'आतिशबाजी' जिसका भय दिखलाते हो,
वह सभी तुम्हारे ही विनाश का साधन है—
जिसको मानवता की उन्नति बतलाते हो।

तुम जिस सत्ता के लिये युगों से व्याकुल हो,
वह कभी घृणा में नहीं, प्यार में पलती है,

यदि उसको पाना है तो अपना रथ मोड़ो,
वह आग बुझादो जो हृदयों में लगती है।

ये ऊँचे-ऊँचे भवन, सृजन के तुंग शृंग,
ये वायुयान, जलयान, रैल, मोटर-कारें,
ये दूर-दूर सम्बन्ध जोड़ते हुए तार,
ये शोर मचाती मिलें, किले, गढ़-दीवारें।

ये सब जिसकी छाया हैं, उसको पहचानो,
उन्नति विनाश को नहीं, सृजन को कहते हैं;
जो ज़हर फैलता जाता है उसको रोको—
निर्माण शान्ति की छाया में ही रहते हैं।

जिस दिन होगा साम्राज्य प्यार का दुनिया में,
जिस दिन पूरब-पश्चिम के दिल मिल जायेंगे,
जिस दिन मानव अपनी एकता समझ लेगा,
जिस दिन मुरझाये हुए चमन खिल जायेंगे।

उस दिन समझो—धरती पर चाँद उतर आया,
उस दिन समझो, अपनी मंजिल पर पहुँच गये,
लेकिन यह बल से नहीं, प्यार से ही होगा,
जब होगा तो समझो साहिल पर पहुँच गये!

विज्ञान प्रकृति के आगे कितना बौना है,
यह मैं अपने अनुभव से तुम्हें बताता हूँ,
बोलते नहीं बनता, रह-रह दम घुटता है,
लेकिन कुछ दर्द और है जो दुहराता हूँ।

यह कृत्रिम घनत्व जो लगभग टूट चुका,
नकली साँसें कितने दिन मुझे जिलाएँगी;
तुम सात रोज़ का ही भोजन दे सके मुझे,
पर अब मेरी भूखी आँतें क्या खाएँगी?

जैसे रोयें-रोयें को नोच रहा कोई,
कोई नस-नस को खींच-खींच कर तोड़ रहा,
उस पर भी जलती किरणें बेध रही तन को,
जैसे शरीर का कोई लहू निचोड़ रहा।

इतनी तेज़ी से घूम रहा हूँ मैं नभ में,
कुछ भी तो दिखता नहीं, न कुछ सुन पाता हूँ,
बस एक वही पुचकार सुनाई देती है,
जिसकी मिठास में मैं अब भी खो जाता हूँ।

लायका इतना ही कह कर सहसा मौन हुआ,
तब से जाने क्या-क्या ख़बरें मैं सुनता हूँ,
देखता कभी आकाश, कभी इस धरती को,
रह-रह कर मन में जाने क्या-क्या बुनता हूँ?

● सही तौर की बारी

श्रीकान्त जोशी

हम सब की आकृतियों पर झूठी मुस्कानें
नकली कलई किये चेहरों की हम दूकानें
बिकने को लाचार और कीमत दो पैसा
कुछ न कर सके, किये अगर तो सिर्फ बहाने।

हम उस खण्डहर से, जो बाहर से देता है
एक व्यवस्थित ताज़े गृह का ताज़ा भ्रम,
भीतर पर झंखाड़ आर्द्रता, टूटन, बिखरन
एक खोखलेपन का अजगर बैठा जम।

हम कैसे हैं अनिमंत्रित आगत से अप्रिय
अपनी आत्म-चेतना की विस्मृति से घायल
अपने स्वत्वों को अपने ही चमरौधों से
चूर-चूर करने की बेशरमी के क़ायल।

कब तक भीतर की चीत्कारों को रोकेंगे
मुस्कानों के कच्चे-पक्के कॉर्क लगा कर—
कब तक भीतर के रीतेपन को रोधेंगे
सस्ते फ़िल्मी गीतों को दुहरा-दुहरा कर।

जीते-जीते पुण्य हो गया—पुण्य हो गया
जीते-जीते पाप हुआ तो पाप हो गया

लक्ष्यहीन संक्रमणशील अपने पाँवों को
हमने रोका, तब जब पंथ चढ़ाव हो गया।

एक नहीं हम ढेर-ढेर मानवता के हैं
अर्थ-विषमता ने जिनको अरअरा दिया है
जिनके नहीं हौसले थे आकाशों से कम
पर जिनको उत्कोचवाद ने ढहा दिया है।

हम क्यों जीते हैं वैसा जो नहीं चाहिए
मातम का दिन और आप त्यौहार गाइए
हँसने का क्षण पानी में पिघला देते हैं
रोने की बिरिया मजबूरन हँसे जाइये।

क्यों स्वाधीन देश में वह व्यक्तित्व नहीं है
सही बात को सह कर भी जो सही कह सके
ग़लत कामयाबी पर जिसको नाज़ नहीं हो
और हजारों-लाखों में जो ग़लत कह सके।

जिधर देख लो दृष्टि उधर बौरा जाती है
लाश सत्य की झूठ पहन कर छा जाती है
ग़लत विशेषण, ग़लत प्रशंसा, ग़लत महत्ता
आरोपित करने में उम्र बिला जाती है।

न्याय शक्ति की अँगुलियों पर नाच रहा है
नेत्रहीन कृति आलोकों की बाँच रहा है
रक्तहीन हो रही परस्पर की सहृदयता
और आदमी आदम को हो आँच रहा।

प्रतिभा के ज्वालामुखि अन्तर्मुखी हुए हैं
कुछ अधरों को तार रजत के सिये हुए हैं
जिनके काया-बसन धुले हैं, अधर खुले हैं
वे सब आरोपित कालिख से रँगे हुए हैं।

ये दबने का और दबाने का कैसा युग
रोटी कपड़ा, रहन, रोज़गी, बहुत वज़न है
कब तक अपनी गर्दन को हम झुका रखेंगे
और दाबने वालों का कब तलक शगुन है?

दाब मगर कब तक सकता है कौन किसी को
रूई भी जो खूब मसल दो चुभ जाती है
ग़लत तरीकों से जीने वालों के दिन हैं
देखें सही तौर की बारी कब आती है ?

● घिरौंदे का त्यौहार

श्रीकान्त वर्मा

प्राण ! यह त्यौहार का दिन बहुत धीरे बहुत मंथर
उतरता है
आज जैसे एक गुब्बारा
कहीं से कहीं उड़ता आ रहा हो ।
धूप जैसे हरसिंगार हजार बरसों तक बरस कर चुप
हुए हों
प्राण ! आओ,
आज इस त्यौहार के दिन
एक मिट्टी का घिरौंदा कहीं रच दें ।
धूप आकर कहीं इसके निकट अपनी हाट कर ले ।
किरण इसमें उतर
दिनभर कुलवधू-सी बाट जोहे ।
दोपहर बुढ़िया सरीखी इधर ताके, उधर टोहे ।
हवा इसकी खिड़कियों से झाँक जाए ।
और फिर कोई न आए,
और फिर कोई न आए ।
धूप की यह हाट उखड़े, शाम सब कुछ बाँध चल दे ।
बस,
घिरौंदे में कहीं पर एक पीली किरण छटपट कर रही हो ।
आह ! शायद वह हमारी कामना हो, मर रही हो ।

प्राण ! आओ,
हम इसे इस घिरौंदे से मुक्त कर दें !
आज अधरों पर अधर
त्यौहार पर त्यौहार धर दें ।

● अस्तित्व की माँग

जिन्दगी जैसे किसी से माँग लाया हूँ उधार
और क्षण प्रतिक्षण चुकाता जा रहा हूँ
ब्याज का भी ब्याज, लेकिन लग रहा है
मूल ज्यों का त्यों पड़ा है
प्रश्नचिह्नों की खड़ी हैं पंक्तियाँ,
बढ़ रही हैं;
हर इरादा घिर रहा है,
हर बँधी मुट्ठी जकड़ती जा रही है
हर तकाज़े में छिपा उपहास का स्वर सह रहा हूँ।
पूछता हूँ—
कौन है यह मूल का दाता?
कहाँ है?
ब्याज क्यों दूँ?
ब्याज का कुछ अर्थ है क्या?
और यह कब तक चलेगा?
किन्तु उत्तर भी यही है—
प्रश्नचिह्नों की खड़ी हैं पंक्तियाँ,
(जो बढ़ रही हैं।)
मूल चुक ही जाय,
यह मेरी विकलता है कि क्षमता,
या कि यह अस्तित्व की ही माँग है—
हर कदम हर साँस केवल
दिये जाना, दिये जाना, दिये जाना।

घोर तम के बहुत गहरे गह्वरों के
बहुत नीचे से कहीं से
नित्य ही आवाज़ जो आती रही है
और टकरा लौट भी जाती रही है,
वही फिर-फिर आ रही है—
हर दिये जाना सदा ही सार्थक है
क्योंकि उसका अर्थ है :
पाना, बहुत पाना।

मैं उसे पहचानता हूँ
जिसे मैं जन्मान्तरों से जानता हूँ,
मूल या अस्तित्व या
ये ब्याज सच हों या नहीं हों,
किन्तु, यह आवाज़ सच है।
कामना है यह कि यह आवाज़ मेरी
हर अमानत से बँधी हो
हृदय की प्रत्येक धड़कन में सधी हो,
यही मेरी साधना हो!
हर कदम, हर साँस केवल
दिये जाना, दिये जाना, दिये जाना!

● हर क़दम पर

सत्येन्द्र श्रीवास्तव

दर्द हँसता है
भूख गाती है
हर नयी आवाज़ इस सुनसान में
कुछ दूर जाकर लौट आती है!

जलन, कुण्ठा, व्यथा, आँसू
क्या यही भवितव्य है?
द्रोण हर दिन सामने है,
अँगूठा देता हुआ—
सामने एकलव्य है!

जहाँ देखो
बाँह खोले
जिन्दगी सब कुछ लुटाती है,
... ...

हर क़दम पर
ओ तथागत!
आज तेरी याद आती है!

● मेघ आये

सर्वेश्वर दयाल
सक्सेना

मेघ आये बड़े बन ठन के, सँवर के।

आगे आगे नाचती-गाती बयार चली
दरवाजे खिड़कियाँ खुलने लगीं, गली गली
पाहुने ज्यों आये हों, गाँव में शहर के।
मेघ आये बड़े बन ठन के, सँवर के।

पेड़ झुक झाँकने लगे, गरदन उचकाये
आँधी चली, धूल भागी घाँघरा उठाये
बाँकी चितवन उठा नदी ठिठकी, घूँघट सरके।
मेघ आये बड़े बन ठन के, सँवर के।

बूढ़े पीपल ने आगे बढ़ जुहार की,
"बरस बाद सुधि लीन्हीं"—
बोली अकुलायी लता ओट हो किवार की
हरषाया ताल लाया, पानी परात भर के।
मेघ आये बड़े बन ठन के, सँवर के।

छितिज अटारी गदरायी दामिनी दमकी
'छमा करो गाँठ खुल गयी अब भरम की'
बाँध टूटा झर-झर मिलन के अश्रु ढरके।
मेघ आये बड़े बन ठन के सँवर के।

● दीपों का गीत

सुमित्रा कुमारी
सिनहा

गीत मेरे, दीप बन कर जगमगाओ!

स्नेह मेरे प्राण की अनुरक्ति का है!
गेह मेरे मान की ही शक्ति का है!

प्रीति, मेरे तिमिर में तुम पथ दिखाओ!

तिमिर का, विष-पान कर, ये स्वर जिये हैं
भाल पर, आलोक का, हिमकर लिये हैं!

सहज आस्था-राग भर, तुम लहर जाओ!

गूँथ इनमें, स्वप्न-जीवन के, सितारे,
टाँक लाई चाँद सूरज के इशारे,
[प्रलयनिशि में सृजन की वेला जगाओ!

रात मावस की परीक्षा काल की है।
बात केवल ज्योति के जय-माल की है।
मीत मेरे, लौ लगा, माथा उठाओ!

● कौवे

सुमित्रानन्दन पंत

काँव काँव करते कठ कौवे
काँव काँव, कटु काँव काँव!

सिहर उठा निश्चेतन का तम
(राग द्वेष स्पर्धा कुंठा भ्रम!)
क्रुद्ध, रुद्ध लघु व्यक्ति का अहम्,
क्षुब्ध पीटता द्रोह पाँव!

फैला काले डैने भीषण
घिरते भय के घन, भर गर्जन,
कँप उठता शंकाऽकुल भू मन
खड़ी प्रेत सी मृत्यु छाँव!

नव चेतन के अरि ये दुर्धर,
वह पावक कण, ये तृण भूधर,
लोट रहे अघ अजगर रज पर
खल मुँह बाए,—खाँव, खाँव!

क्षुधित कामना सिन्धु उफनकर,
अग्नि स्तम्भ सा उठता ऊपर,
सिर पर सूर्य, तले तम गह्वर,
उभय पड़ोसी, एक गाँव!

ध्यान मौन जब खींच लिया मन,
विहँस उठे दल, भुवन पर भुवन,

शीश चरण नत, निखिल भवार्पण
दर्प सर्प का व्यर्थ दाँव !

अटल शांति रे, नीलतम गगन,
गहन भाव जल होता अनुक्षण,
लय, तन्मय मन,—केवल, कारण,—
संशय भय को कहाँ ठाँव !

काँव काँव करते कठकौवे,
काँव काँव !

● पाठकोवाच

सुरेन्द्र चतुर्वेदी

[दया भाव से]
मूर्ख !
गोपनीय कुछ न रख सका
जो न वह पचा सका
उगल गया ।
टूक-टूक बाँध मौन का हुआ
दर्द शब्द शब्द बन बिखर गया ।
[गर्व से]
मैं चतुर सुजान
ज़हर पी गया
मन मसोस
पत्थर बन जी गया ।

हमारे तीन पुश्त से
कुमारेश का
व्यवहार हो रहा है
कुमारेश लिवर और पेटकी बिमारीयोंमे
फलदायक और प्रतिषेधक
सालकिया
ओ, आर, सि, एल, लिः
हावड़ा
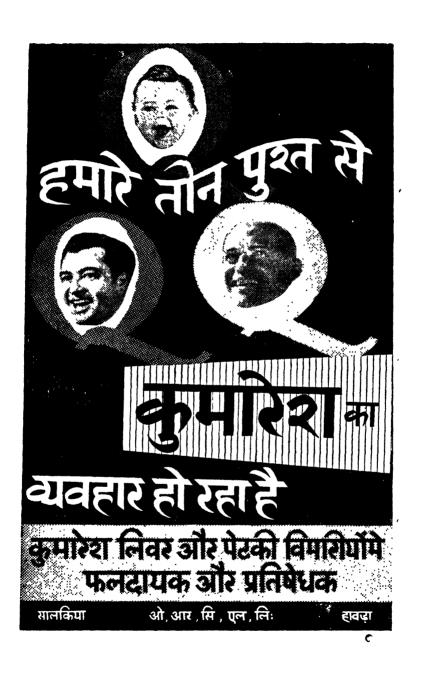
RAVINGS
of
JANARDAN SHARMA

●

S. Chatterjee, M. A.

●

Price : Rupees Two only
A Scindia Endeavour Publication

●

Introduction by
ASUDE

●

A Word In Season

7, Rajani Sen Road,
Calcutta-26

A humorist is happy when his leg-pull raises a laugh.......

But then, I may be wrong, as counsel conceded in court to his learned friend on the other side. ....

What I mean is that these musings of Janardan Sharma may not, after all, be "leg-pulls" but meant seriously. ....

I am, therefore, content to be fooled and amused. I have not the slightest doubt that others like me,——— men with brains,———will, too. For, the consistency with which Janardan has maintained the spoofing is astonishing.

But again, there will be others—I am sure—who will be writing to Janardan passionately expressing their agreement with all that Janardan has said. It will be then that Janardan will reap the reward he so richly deserves—a good laugh for himself. I wish him the best of luck.

24-6-1958 *Asude*

ज़रा-सी शराफ़त

जाड़े की रात और चलती
गाड़ी। लम्बा - तगड़ा
जवान सिर से पाँव तक कम्बल
ओढ़े, पूरी बेंच पर
कब्जा जमाये आराम से लेटा है...
पास ही बोरिया-बिस्तर के
ढेर पर कठिनाई के
साथ बैठा लड़का ठण्ड से काँप रहा
है। वह बेचारी औरत
उस कोने में भीड़ के मारे
लगातार दबी जा रही
है। कमज़ोर बूढ़ों की मदद करने वाला
कोई नहीं। रेल के डब्बे के
अन्दर इस तरह की बुरी
बातें अक्सर दिखाई पड़ती
हैं। साथ के मुसाफिर
अगर ज़रा-सी शरा-
फ़त से काम लें तो रेल का
सफर किसी को दुखदाई न
हो। मीठे बोल और भाई-
चारे के बर्ताव से सफर की तमाम
तकलीफें और दिक्कतें मुस्कराते
हुए बर्दाश्त की जा सकती हैं।

पूर्व रेलवे

कोमल चमकीले
केशों का रहस्य
चमकीले गुच्छेदार केश का रहस्य निरन्तर परिचर्या में ही नहीं, उपयुक्त केश तैल के चुनाव में भी है।
कैलकेमिको के कैस्टर आयल को पसन्द वे ही किया करते हैं जो जानते हैं कि इसके नियमित उपयोग से सुकोमल केशों की प्रचुर वृद्धि होती है तथा असमय में केशों के पक जाने तथा गिरने को रोकने में यह सहायक है। स्वच्छ कैस्टर आयल से प्रस्तुत यह रमणीय मधुर सुगन्धयुक्त तैल केशों को देदीप्यमान आभा प्रदान करता है।
५ और १० औंस की फैन्सी शीशियों में उपलब्ध
कैस्टॉरॉल
अतुलनीय केश तैल
हमारी निःशुल्क सचित्र पुस्तिका केशवती के लिये लिखिये जिसमें विभिन्न प्रकार के १२ चित्र हैं।
CASTOROL
CAS-3/55(H)
दि कैलकटा केमिकल कं० लि०
कलकत्ता-२९

क्या हम आप को स्मरण दिला सकते हैं कि भारतीय रेलें राष्ट्र की ही संपत्ति हैं
कृपया अपनी जूठन के टुकड़े एवं फलों के छिलके प्लेटफार्म या डिब्बों में न फेंकिये। इस प्रकार रेलों को अपनी सीमायें स्वच्छ रखने में सहायता दीजिये।
कृपया असंयमित रूप से न थूकिये। स्टेशन प्लेटफार्मों पर थूकदान रक्खे हुये हैं। आप उनका उपयोग कर सकते हैं।
कृपया जलती हुई सिगरेटों के टुकड़े गाड़ी के डिब्बों में न फेंकिये। इनसे आग लग सकती है।
जो लोग रेलवे सामान को क्षति पहुंचाते या चुराते हैं, वे राष्ट्र की प्रगति में बाधक हैं। कृपया राष्ट्र की संपत्ति की रक्षा करने एवं सेवा में सुधार लाने के कार्य में रेलों की सहायता कीजिये।
मध्य एवं पश्चिम रेलवे

उपरला वाल्व एंजिन